MAHIN-504

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा समालोचना – I

MA HINDI

3rd Semester

Rajiv Gandhi University

ww.ide.rgu.ac.in

‘भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा समालोचना – I’

एम.ए. (हिंदी)

(तृतीय सत्र)

MAHIN-504

RAJIV GANDHI UNIVERSITY

Arunachal Pradesh, INDIA – 791 112

BOARD OF STUDIES	
Prof. Shyam Shankar Singh, (Head) Dept. Of Hindi Rajiv Gandhi University	**Chairman**
Prof. Chandan Kumar Dept. Of Hindi Delhi University	**External Member**
Prof. Dilip Medhi Dept. Of Hindi Guwahati University	**External Member**
Prof. Oken Lego Dept. of Hindi Rajiv Gandhi University	**Member**
Dr. Arun Kumar Pandey Dept. of Hindi Rajiv Gandhi University	**Co-ordinator**

Authors

Dr. Laxmi Pandey,

Yogesh Pandey

Vikas revised edition 2021

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Publisher.

"Information contained in this book has been published by Vikas Publishing House Pvt. Ltd, and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, IDE-Rajiv Gandhi University, te publishers and its Authors shall be in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use"

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.
Vikas® PUBLISHING HOUSE PVT LTD
E-28, Sector-8, Noida: 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 Fax: 0120-4078999
Regd. Office: 7561 Ravindra Mansion, Ram Nagar, New Delhi - 110055
Website: www.vikaspublishing.com Email: helpline @vikaspublishing.com

विश्वविद्यालय : एक परिचय

राजीव गाँधी विश्वविद्यालय अरुणाचल प्रदेश के प्रमुख उच्च (पूर्व में अरुणाचल विश्वविद्यालय) संस्थानों में से एक है। स्वर्गीय श्रीमती इंदिरा गांधी ने जो तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री व फरवरी 1984 को रोनो हिल्स पर विश्वविद्यालय की नींव रखी थी यही विश्वविद्यालय का वर्तमान कप विद्यमान है। आरंभ से ही राजीव गांधी विश्वविद्यालय श्रेष्ठता हासिल करने और उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयासरत है जो

आरंभ से ही राजीव गाँधी विश्वविद्यालय श्रेष्ठता हासिल करने और उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयासरत है जो विश्वविद्यालय अधिनियम में निहित है। 28 मार्च 1985 में विश्वविद्यालय को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा सेक्शन 2 (F) के अंतर्गत अकादमिक मान्यता प्रदान की गई।

26 मार्च, 1994 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सेक्शन 12.V के अंतर्गत इसे वित्तीय मान्यता मिली। तब से, राजीव गांधी विश्वविद्यालय ने देश के (तत्कालीन अरुणाचल विश्वविद्यालय) शैक्षिक परिदृश्य में अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा गठित विशेषज्ञों की एक उच्च स्तरीय समिति द्वारा देश के उन विश्वविद्यालयों में राजीव गांधी विश्वविद्यालय को भी चुना गया जिनमें श्रेष्ठता हासिल करने की संभावनाएं व सामर्थ्य है।

9 अप्रैल 2007 से विश्वविद्यालय को मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार की एक अधिसूचना के माध्यम से केंद्रीय विश्वविद्यालय का दर्जा दिया गया।

यह विश्वविद्यालय रोनो हिल्स की चोटी पर 302 एकड़ के विहंगम प्राकृतिक अंचल में स्थित है जहां से दिक्रोंग नदी का अदभुत दृश्य देखने को मिलता है। यह राष्ट्रीय राजमार्ग 52-A से 6.5 कि.मी . और राज्य की राजधानी ईटानगर से 25 किकी दूरी पर स्थित है। दिक्रोंग पुल के द्वारा कैंपस राष्ट्रीय .मी . राजमार्ग से जुड़ा हुआ है।

विश्वविद्यालय के शैक्षिक व शोध कार्यक्रम इस प्रकार तैयार किए गए है कि वे राज्य के सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक विकास में सकारात्मक भूमिका निभा सकें। विश्वविद्यालय स्नातक स्नातकोत्तर एमएड का कोर्स भी .कार्यक्रम भी संचालित करता है। शिक्षा विभाग बी .डी .एच .फिल व पी . चलाता है।

इस विश्वविद्यालय से 15 कॉलेज संबद्ध है। विश्वविद्यालय पड़ोसी राज्यों, विशेषकर असम के छात्रों को भी शैक्षिक सुविधाएं प्रदान कर रहा है। इसके विभिन्न विभागों व इससे जुड़े कॉलेजों में छात्रों की संख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है।

यूजीसी व अन्य फडिंग एजेंसियों की वित्तीय सहायता से संकाय सदस्य भी शोध गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग ले रहे हैं। आरंभ से ही विभिन्न फडिंग एजेंसियों द्वारा विश्वविद्यालय के विभिन्न शोध प्रस्तावों को स्वीकृत किया गया है। विभिन्न विभागों ने अनेक कार्यशालाओं, संगोष्ठियों व सम्मेलनों का आयोजन भी किया है। अनेक संकाय सदस्यों ने देश व विदेश में आयोजित सम्मेलनों व संगोष्ठियों में

भाग लिया है देश विदेश के प्रमुख विद्वानों व विशिष्ट व्यक्तियों ने-1 विश्वविद्यालयों का दौरा किया है और अनेक विषयों पर अपने वक्तव्य भी प्रस्तुत किए है।

2000-2001 का अकादमिक वर्ष विश्वविद्यालय के लिए सुदृढीकरण का वर्ष रहा। वार्षिक परीक्षाओं से सेमेस्टर प्रणाली में परिवर्तन व्यवधानविहीन रहा और परिणामत छात्रों के प्रदर्शन में भी विशेष सुधार देखा गया बोर्ड ऑफ पोस्ट ग्रेजुएट स्टडीज़ द्वारा बनाए गए विभिन्न पाठ्यक्रमों को लागू किया गया यूजीसी इंफोनेट कार्यक्रम के तहत ERNET इंडिया द्वारा VSAT सुविधा प्रदान की गई ताकि इंटरनेट एक्सेस प्रदान की जा सके।

मूलभूत संरचनागत सीमाओं के बावजूद विश्वविद्यालय अकादमिक श्रेष्ठता बनाए रखने में सफल रहा है। विश्वविद्यालय अकादमिक कैलेंडर का अनुशासित रूप से पालन करता है परीक्षाएं समय पर संचालित की जाती है और परिणाम भी समय पर घोषित होते हैं विश्वविद्यालय के छात्रों को न केवल राज्य व केंद्रीय सरकार में नौकरी के अवसर प्राप्त हुए है बल्कि वे विभिन्न प्रतिष्ठित संस्थाओं उद्योगों व संस्थानों में नौकरी के अवसर प्राप्त करने में सफल रहे हैं। अनेक छात्र NET परीक्षाओं मैं भी सफल हुए हैं। अनेक छात्र | परीक्षाओं में भी सफल हुए हैं NET

आरंभ से अब तक विश्वविद्यालय ने शिक्षण, पाठ्यक्रम में नवीन परिवर्तन लाने व संरचनागत विकास में महत्वपूर्ण प्रगति की है |

आईडीई एक परिचय

हमारे देश में उम शिक्षा प्रणाली को सीमित सीटों सुविधाओं और बुनियादी संसाधनों की कमी के कारण अनेक सामना करना पड़ रहा है। विषयों से जुड़े शिक्षाविद मानते है कि शिक्षा की प्रणाली से अधिक महत्वपूर्ण और जानना है। दूरस्थ शिक्षा प्रणाली इन सभी बुनियादी समस्याओं और समाजिकआर्थिक - बाधाओं को दूर करने का यह प्रणाली ऐसे लाखों लोगों की गुणवत्ता युक्त शिक्षा पाने की मांग की पूर्ति कर रही है जो अपनी रखना चाहते है मगर नियमित रूप महाविद्यालयों में प्रवेश नहीं ले पाते। यह प्रणाली उच्च शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले बेरोजगार कार्यरत पुरुष और महिलाओं के लिए भी मददगार सिद्ध होती है। दूरस्थ शिक्षा प्रणाली उन लोगों के लिए भी उपयुक्त माध्यम है जो सामाजिक, आर्थिक अथवा अन्य कारणों से शिक्षा और शिक्षण संस्थानों से दूर हो गए या समय नही निकाल पाये। हमारा मुख्य उद्देश्य उन लोगों को उच्च शिक्षा की सुविधाएं प्रदान करना है जो मान्यता प्राप्त विश्वविद्यालय नियमित तथा व्यावसायिक शैक्षिक पाठ्यक्रमों में प्रवेश नहीं ले पाते विशेषकर अरुणाचल प्रदेश के ग्रामीण व भौगोलिक रूप से दूरदराज स्थित क्षेत्रों में व सामान्यतया उत्तरपूर्वी भारत - के दूरस्थ स्थित क्षेत्रों में रान2008 में दूरस्थ शिक्षा केंद्र का नाम परिवर्तित कर दूरस्थ शिक्षा संस्थान रखा गया दूरस्थ शिक्षार्थियों के लिए शिक्षा के अवसरों का विस्तार करने के प्रयास जारी रखते (आईटीई) हुए आईडीई ने2013-14 के शैक्षणिक सत्र में पांच स्नातकोत्तर विषयों शिक्षा अंग्रेजी), हिंदी, इतिहास और राजनीति विज्ञानको शामिल किया है। (

दूरस्थ शिक्षा संस्थान में विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के पास ही शारीरिक विज्ञान संकाय भवन पहली मंजिल का निर्माण किया गया है। विश्वविद्याल)य परिसर राष्ट्रीय राजमार्ग 52 ए के एनईआरआईएसटी बिंदु से 6 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। विश्वविद्यालय की बसें एनईआरआईएसटी के लिए नियमित रूप से चलती रहती है।

दूरस्थ शिक्षा संस्थान की अन्य विशेषताएं

.1 **नियमित माध्यम के समकक्ष**-पात्रता, अर्हताएं, पाठ्यचर्या सामग्री, परीक्षाओं का माध्यम और डिग्री राजीव गांधी विश्वविद्यालय और विश्वविद्यालय के विभागों के समकक्ष हैं।

2. **स्वयं शिक्षण अध्ययन सामग्री** -**(एसआईएसएम)**छात्रों को संस्थान द्वारा तैयार और दूरस्थ शिक्षा परिषद(डीईसी) नई दिल्ली द्वारा अनुमोदित स्वयं शिक्षण अध्ययन सामग्री प्रदान की जाती है। यह सामग्री प्रदेश के समय आईडीई और अध्ययन केंद्रों में उपलब्ध कराई जाती है। यह सामग्री हिंदी विषय के अलावा सभी विषयों में अंग्रेजी में ही उपलब्ध कराई जाती है।

3. **संपर्क और परामर्श कार्यक्रम** (**सीसीपी)** शैक्षिक कार्यक्रम के प्रत्येक पाठ्यक्रम में व्यक्तिगत संपर्क द्वारा लगभग 7-15 दिनों की अवधि का परामर्श शामिल है। बीपाठ्यक्रमों के लिए .ए.

के लिए सीसीपी में .ए.सीसीपी अनिवार्य नहीं है। हालांकि व्यावसायिक पाठ्यक्रमों और एम उपस्थिति अनिवार्य होगी।

.4 **फील्ड प्रशिक्षण और प्रोजेक्ट** -व्यावसायिक पाठ्क्रमों में फील्ड प्रशिक्षण और संबंधित विषय में प्रोजेक्ट लेखन का आवश्यक प्रावधान होगा।

5. **परीक्षा एवं निर्देश का माध्यम** -परीक्षा और शिक्षा का माध्यम उन विषयों को छोड़कर जिनमें संबंधित भाषा में लिखने की जरूरत हो, अंग्रेजी होगा।

6. **विषय परामर्श संयोजक** -पाठ्य सामग्री को तैयार करने के लिए आईडीई विश्वविद्यालय के अंदर और बाहर विषय समन्वयकों की नियुक्ति करती है। विश्वविद्यालय द्वारा नियुक्त परामर्श समन्वयक पीसीसीपी के अनुदेशों को प्रभावी रूप से लागू करने के लिए विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों से जुड़े रहते हैं ये परामर्श समन्वयक परामर्श कार्यक्रम के सुचारु रूप से संचालन तथा विद्यार्थियों के एसाइनमेंट्स का मूल्यांकन करने के लिए संबंधित व्यक्तियों से संपर्क कर आवश्यक समन्वय करते हैं। विद्यार्थी भी इन परामर्श समन्वयकों से संपर्क कर अपने विषय से संबंधित परेशानियों और शंकाओं का समाधान प्राप्त कर सकते है

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE
भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा समालोचना – I

Syllabi- MAHIN-504	Mapping in Book
इकाई 1 : परिचय ; भारतीय काव्यशास्त्र का संस्कृत एवं संस्कृतेतर इतिहास ; काव्य लक्षण ; काव्य प्रयोजन काव्य हेतु	**इकाई1** : **भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास – I**
इकाई 2 : परिचय ; अलंकार सम्प्रदाय ; रीति सम्प्रदाय ; ध्वनी सम्प्रदाय	**इकाई 2** : **काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय – I**
इकाई 3 : परिचय ; पाश्चात्य काव्यशास्त्र का विकास क्रम ; प्लेटो अरस्तु ; लोंजाइनस का उदात्त तत्व ;	**इकाई 3** : **पाश्चात्य काव्य सिद्धांत – I**
इकाई 4 : परिचय ; हिंदी आलोचना के सिद्धांत और प्रणालियां ; हिंदी में काव्यशास्त्रीय चिंतन और आलोचना का विकास ; प्रमुख आलोचना सिद्धांत ; रचना के तीन क्षण ; स्वच्छंदतावादी आलोचना	**इकाई 4** : **हिंदी आलोचना के सिद्धांत एवं प्रणालियां – I**
इकाई 5 : परिचय ; आचार्य रामचंद्र शुक्ल ; शिवदान सिंह चौहान ; आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ; डॉ. नगेन्द्र	**इकाई 5** : **हिंदी के प्रमुख आलोचक – I**

विषय-सूची

परिचय

इकाई 1 : भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास – I

1.0 परिचय
1.1 भारतीय काव्यशास्त्र का संस्कृत एवं संस्कृतेतर इतिहास
1.2 काव्य लक्षण
1.3 काव्य प्रयोजन काव्य हेतु

इकाई 2 : काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय – I

2.0 परिचय
2.1 अलंकार सम्प्रदाय
2.2 रीति सम्प्रदाय
2.3 ध्वनी सम्प्रदाय

इकाई 3 : पाश्चात्य काव्य सिद्धांत – I

3.0 परिचय
3.1 पाश्चात्य काव्यशास्त्र का विकास क्रम
3.2 प्लेटो
3.3 अरस्तु
3.4 लोंजाइनस का उदात्त तत्व

इकाई 4 : हिंदी आलोचना के सिद्धांत एवं प्रणालियां – I

4.0 परिचय
4.1 हिंदी आलोचना के सिद्धांत और प्रणालियां
4.2 हिंदी में काव्यशास्त्रीय चिंतन और आलोचना का विकास
4.3 प्रमुख आलोचना सिद्धांत
4.4 रचना के तीन क्षण
4.5 स्वच्छंदतावादी आलोचना

इकाई 5 : हिंदी के प्रमुख आलोचक – I

5.0 परिचय
5.1 आचार्य रामचंद्र शुक्ल
5.2 शिवदान सिंह चौहान
5.3 आचार्य नंददुलारे वाजपेयी
5.5 डॉ. नगेन्द्र

इकाई 1 भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास –I

1.0

काव्यशास्त्र का अध्ययन करने के लिए सर्वप्रथम काव्य के स्वरूप अर्थात 'काव्य क्या है' यह जानना आवश्यक है। यह शीर्षक काव्य की परिभाषाओं, काव्य के लक्षणों, काव्य हेतु, काव्य प्रयोजन और अंत में काव्य के प्रकारों से अवगत कराता है। विभिन्न विद्वानों ने काव्य की अलग-अलग परिभाषाएं दी हैं, जो अंतत: एक ही उद्घोष करती हैं कि रस युक्त, दोष हीन, गुणयुक्त लयात्मक पंक्ति जो हृदय में आनंद का रस का संचार करती है उसे काव्य कहते हैं। काव्य लिखने के पीछे कोई न कोई हेतु होता है जिसकी शक्ति और प्रेरणा से काव्य रचना होती है, कोई प्रयोजन या लक्ष्य या उद्देश्य होता है जिसके कारण कवि सृजन करता है। इन काव्य हेतुओं और प्रयोजनों के साथ काव्य के लक्षणों और काव्य के अनेक प्रकारों का अध्ययन हम यहां करेंगे।

काव्य आत्मा की कला है। भारतीय काव्यशास्त्रियों एवं संस्कृत के आचार्यों की यह जिज्ञासा थी, उत्कंठा थी कि काव्य में ऐसा कौन सा प्रभावी तत्व है, सार तत्व है जिसके कारण लोग काव्य की ओर आकर्षित होते हैं, जिसके कारण सहृदय झूम उठते हैं, जिसका

प्रभाव हृदय पर अंकित हो जाता है? इस जिज्ञासा, उत्कंठा को शांत करने के लिए काव्य की आत्मा खोजने और उसकी उत्कृष्टता का रहस्य जानने की प्रक्रिया में काव्यशास्त्र के विभिन्न सिद्धांतों और संप्रदायों का जन्म और विकास हुआ। जिस प्रकार दर्शनशास्त्री आत्म-तत्व को जानने की प्रक्रिया में स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्मता तक पहुंचते हैं उसी प्रकार काव्यशास्त्र के अध्येता, आचार्यगण काव्य के बाह्य शारीरिक धर्म यानी अलंकार और भीतरी आत्मिक धर्म यानी रस के बीच यात्रा, तर्क-वितर्क, विवेचन करते रहे और इस तरह पांच संप्रदाय विकसित और प्रतिष्ठित हुए। 'रस' से बात आरंभ हुई। भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में कहा– 'विभावानुभावव्यभिचारी-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः।' रस ही काव्य की आत्मा है, ऐसा मानने वाले आचार्यों के साथ 'अलंकार' को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्यों की संख्या भी बहुत अधिक थी। दंडी ने 'काव्यादर्श' में कहा– 'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।' रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले, रीति-सिद्धांत को प्रतिष्ठित करने वाले आचार्य वामन ने कहा–'रीतिरात्मा काव्यस्य'। आचार्य कुंतक ने कहा–'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' अर्थात वक्रोक्ति ही काव्य का जीवन है। आचार्य आनंदवर्धन ने 'ध्वनि' को काव्य की आत्मा घोषित करते हुए कहा–**'काव्यस्यात्मा ध्वनिरितिबुधैः यः समाम्नात् पूर्वम्।'** इन पांच प्रतिष्ठित संप्रदायों के बाद दो सिद्धांत और विकसित हुए – 'औचित्य' और 'चमत्कार'। क्षेमेंद्र ने 'औचित्य विचार' चर्चा में कहा– "औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।" और विश्वेश्वर कविचंद्र ने 'चमत्कार चंद्रिका' में कहा–

"चमत्कारस्तु विदुषामानन्दपरिवाहकृत्।
गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकशय्यामलङ्कृतिम्॥"

इस तरह सात सिद्धांतों का विकास हुआ। इनमें से छह सिद्धांतों (रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य) ने संप्रदाय का रूप धारण कर लिया किंतु सातवां 'चमत्कार' केवल सिद्धांत रूप में ही प्रचलित है। इस इकाई में भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास और काव्य सर्जन, काव्य-प्रयोजन और काव्य हेतु के कारणों को जानते हुए रस निष्पत्ति एवं साधारणीकरण की प्रक्रिया का विस्तार से विवेचन किया जा रहा है।

1.1 इकाई के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

- भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास का विस्तृतव विवेचन कर पाएंगे;
- काव्यशास्त्र के नामकरण की प्रक्रिया को समझ पाएंगे;
- काव्यशास्त्र के स्वरूप को परिभाषित कर पाएंगे;
- काव्य के लक्षणों की समीक्षा कर पाएंगे;
- काव्य-प्रयोजन के उद्देश्यों से परिचित हो पाएंगे;
- काव्य-हेतु के कारणों की पहचान कर पाएंगे;
- काव्य के विभिन्न प्रकारों का उदाहरणों सहित विवेचन कर पाएंगे;
- रस के स्वरूप का वर्णन कर पाएंगे;

- रस के विभिन्न अंगों की विशेषताओं का वर्णन कर पाएंगे;
- रस निष्पत्ति की प्रक्रिया से अवगत हो पाएंगे;
- साधारणीकरण की प्रक्रिया का रसास्वादन कर पाएंगे;
- सहृदय की अवधारणा की व्याख्या कर पाएंगे।

1.2 भारतीय काव्यशास्त्र का संस्कृत एवं संस्कृतेतर इतिहास

संस्कृत काव्यशास्त्र की सैद्धांतिक धारणाएं गहन, गंभीर और व्यापक हैं। काव्यशास्त्र के किसी भी पहलू, किसी भी स्तर, किसी भी तत्व या कोण का अध्ययन करना हो, संस्कृत काव्य शास्त्र हर दृष्टि से महत्वपूर्ण, उपयोगी, सक्षम और समर्थ है। विभिन्न आचार्यों ने अपने मतों को स्थापित किया और उनके परवर्ती आचार्यों ने उनके मतों का बड़ी शालीनता से खंडन करते हुए अपने एक नवीन मत को स्थापित किया। संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य भरतमुनि और उनके ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' को काव्यशास्त्र की परंपराओं में प्रथम ग्रंथ स्वीकार किया गया है जो रसवाद की प्रतिष्ठा करता है। भरत के नाट्यशास्त्र में पूर्ववर्ती कवियों और रचनाकारों का उल्लेख है अतः यह माना जाता है कि काव्यशास्त्र पर चर्चा, तर्क-वितर्क ईसवी सन् से कई शताब्दियों पूर्व आरंभ हो गए थे, लेकिन रसवादी आचार्य नंदिकेश्वर के ग्रंथ 'अभिनवदर्पण' के अलावा और कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। भरत के 'नाट्यशास्त्र' और राजशेखर के 'काव्य-मीमांसा' में 'अभिनवदर्पण' के रचयिता नंदिकेश्वर का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त भरत, राजशेखर, शारदातनय, अभिनवगुप्त द्वारा लगभग 27 रचनाकारों का उल्लेख है। परवर्ती काल में 'अग्नि पुराण', 'विष्णुधर्मोत्तर' उपपुराण में भी रस, नृत्य और नाटकों का उल्लेख मिलता है। पी.वी. काणे ने 'संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास' में इस पर विस्तार से लिखा है। रस परंपरा का आरंभ ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के अभिचार मंत्रों, वाल्मीकि रामायण, महाभारत आदि से भी माने जाने का उल्लेख कुछ आचार्यों ने किया है किंतु काव्यशास्त्र की दृष्टि से प्रामाणिक ग्रंथ भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' ही है। अतः रसवादी आचार्य भरतमुनि के साथ ही काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों की परंपरा प्रतिष्ठित हुई। भरत के पश्चात अनेक आचार्यों ने अपने-अपने महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे और अपने-अपने मतों को स्थापित किया; जैसे– भामह का 'काव्यालंकार', आनंदवर्धन का 'ध्वन्यालोक', दंडी का 'काव्यादर्श', वामन का 'अलंकार सूत्र', रुद्रट का 'काव्यालंकार', राजशेखर की 'काव्य मीमांसा' कुंतक का 'वक्रोक्ति जीवितम्', धनंजय का 'दशरूपक', भोज का 'सरस्वतीकंठाभरण' और शृंगारप्रकाश', मम्मट का 'काव्यप्रकाश', पंडित विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण', पंडितराज जगन्नाथ का 'रसगंगाधर', जगदेव का 'चंद्रलोक' आदि। कुछ आचार्यों ने किसी एक सिद्धांत जैसे रस या अलंकार, रीति या वक्रोक्ति को लेकर रचना की तो अधिकांश ने अपने ग्रंथ में सभी सिद्धांतों की चर्चा करते हुए काव्यशास्त्र के किसी एक विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला।

काव्य का स्वरूप, महत्व, गुण-दोष, उत्कृष्टता, शब्द-शक्ति आदि पर विचार प्रकट करते हुए प्रथम पांच सिद्धांतों रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि को मानने वाले लगभग सभी रचनाकारों ने औचित्य का समर्थन किया है। औचित्य का छठे मत के रूप

में उल्लेख करते हुए आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी 'औचित्य विमर्श' में कहते हैं–"पांचों मतों के साथ मिलकर यह सिद्धांत काव्य सिद्धांत की संख्या को छह तक पहुंचा देता है। कहीं-कहीं चमत्कारवाद का भी उल्लेख मिलता है। अतः यदि इसे भी जोड़ दिया जाए तो सब मिलकर सात हो जाते हैं।" पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपने ढंग से महामहोपाध्याय कुप्पूस्वामी द्वारा प्रस्तुत सूत्र की मनोरम व्याख्या करते हुए काव्य मतों की संख्या आठ तक (वाङ्मय विमर्श में) पहुंचा दी है–चारुत्व प्रवाह में चार-वक्रोक्ति, रीति, गुण एवं अलंकार तथा इन सबको उदरस्थ कर जाने वाले अनुभूति प्रवाह में चार-औचित्य, रस, ध्वनि एवं अनुमान। इन आठों के साथ चमत्कारवाद को मिलाया जाए तो संख्या नव तक पहुंच जाएगी। यही नहीं 'अनुभूति सिद्धांत' की तरह ध्वनिविरोधी बारह पक्षों की चर्चा जयरथ ने अपनी विमर्शिनी नामक 'अलंकार सर्वस्व' की टीका में की है। जिनमें से बहुत तो उपर्युक्त मतों एवं सिद्धांतों में ही अंतर्भुक्त हैं– तात्पर्यवाद की तरह कतिपय सिद्धांत और बढ़ जाएंगे। अतः प्रस्तुत पुस्तक में पाठ्यक्रम के अनुसार छह सिद्धांतों की ही चर्चा की जाएगी।

संस्कृत काव्यशास्त्र ही मूलतः भारतीय काव्यशास्त्र है क्योंकि संस्कृत काव्यशास्त्र के पश्चात रीतिकालीन काव्यशास्त्र हो या हिंदी काव्यशास्त्र, उनमें संस्कृत काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों की परंपरा ही निरंतर प्रवाहित होती रही है। रीतिकालीन या हिंदी काव्यशास्त्रियों ने किसी नए सिद्धांत की स्थापना नहीं की। अतः भारतीय काव्यशास्त्र कहने का तात्पर्य संस्कृत काव्यशास्त्र ही है।

भारतीय काव्यशास्त्र काव्य का मेरुदंड है। काव्य के दृश्य और श्रव्य दो भेद हैं। इनमें श्रव्य को भी दो भागों में बांटा गया है–गद्य और पद्य। चूंकि पद्य काव्य ही काव्य के लक्षणों को विशेष रूप से धारण किए रहता है अतः काव्यशास्त्रियों ने इसे ही विवेचन का विषय चुना और माना। श्रेष्ठ काव्य की रचना के लिए काव्यशास्त्र का अध्ययन आवश्यक है। काव्य रचना के लिए परिपक्व और स्वस्थ भाषा शैली, अभिव्यक्ति का कौशल और सौंदर्य, शब्दों का चयन और इन सबका सुंदर संतुलन, औचित्य विचार आदि का विवेक और सामर्थ्य, ये सब काव्यशास्त्र के अध्ययन से ही प्राप्त होते हैं।

1.2.1 काव्यशास्त्र का नामकरण

काव्य के सौंदर्य और प्रभाव को परखने के लिए काव्यशास्त्र का अध्ययन किया जाता है। काव्यशास्त्र को कई नाम दिए गए। विजयेंद्र स्नातक 'हिंदी काव्यशास्त्र की परंपरा' की भूमिका में कहते हैं–"यदि संपूर्ण वांङ्मय का इस संदर्भ में अनुशीलन किया जाए तो काव्यशास्त्र के लिए मुख्यतः पांच शब्दों का प्रयोग होता है। ये पांच शब्द हैं–काव्यशास्त्र, काव्यालंकार, अलंकारशास्त्र, साहित्यशास्त्र और क्रियाकलाप। इन पांचों में अलंकार शब्द का प्रयोग प्राचीनतम है।" इन पांचों नामों में से काव्यशास्त्र नाम को ही सटीक मानते हुए डॉ. भगीरथ मिश्र 'हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास' में कहते हैं–"अलंकार शास्त्र से अलंकार के विशेष विवेचन का ही अभिप्राय निकलता है। काव्य के स्वरूप और उसकी समस्याओं पर विचार करने वाले विषय को काव्यशास्त्र ही कहना विशेष उपयुक्त है क्योंकि इसके अंतर्गत अलंकारों के अतिरिक्त अन्य विषय भी समाविष्ट रहते हैं। आजकल

साहित्य और काव्य के अर्थों में व्यापकता की दृष्टि से कुछ अंतर है। साहित्य शब्द को बहुधा हम शास्त्रीय, वैज्ञानिक एवं रमणीय सभी प्रकार की रचनाओं के लिए प्रयुक्त करते हैं। अतः साहित्य शास्त्र से काव्यशास्त्र शब्द हमारे उद्देश्य की पूर्ति अधिक स्पष्टता के साथ करता है।"

काव्यशास्त्र के पांच नामों में से साहित्य शास्त्र और अलंकार शास्त्र सर्वाधिक प्रचलित रहे। संस्कृत की काव्यशास्त्र परंपरा के आचार्यों जैसे– भामह, उद्भट, रुद्रट, वामन आदि ने अपने ग्रंथों के नामकरण में अलंकार शब्द को प्रमुखता दी। किसी ने 'काव्यालंकार', किसी ने 'सौंदर्यालंकार', किसी ने 'अलंकार सर्वस्व' नाम से अपने ग्रंथ का नामकरण किया। इसी तरह 'साहित्य-मीमांसा', 'साहित्य दर्पण', 'साहित्य-विद्या' आदि नामकरण भी चर्चित हुए। पंडित विश्वनाथ ने अपने सुप्रसिद्ध और महत्वपूर्ण ग्रंथ का नाम 'साहित्य दर्पण' रखकर साहित्य शब्द को प्रतिष्ठा दिलाई किंतु परवर्ती काल में आचार्य मम्मट द्वारा स्थापित 'काव्यशास्त्र' शब्द ही प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध हुआ।

1.2.2 काव्यशास्त्र का स्वरूप

काव्यशास्त्र काव्य के स्वरूप और उसकी समस्याओं पर विचार अथवा अध्ययन करता है। काव्य रचना के लिए जिस अनिवार्य अनुशासन की आवश्यकता होती है, भारतीय काव्यशास्त्र उसका निर्धारण करता है। राममूर्ति त्रिपाठी कहते हैं, "काव्य के शास्त्र से अभिप्राय उसके शासन से है–नियम विधान से है। शास्त्र इसलिए शास्त्र माना जाता है कि वह शासन करता है, कवियों को निरंकुश होने से रोकता है। काव्य का अनुशासन ही काव्य का शास्त्र है।" वाग्भट्ट 'काव्यानुशासन' की चर्चा करते हैं, दशरूपककार धनंजय भी अनुशासन का ही समर्थन करते हैं जबकि महाभाष्यकार पतंजलि वैयाकरण होने के नाते 'शब्दशासन' की बात करते हैं। अनुशासनहीनता काव्य में अनौचित्य को जन्म देती है तथा अनौचित्य से बड़ा 'रसभंग' का दूसरा कारण नहीं होता। औचित्य निबंधन ही रस के परम समीप ले जाता है। आनंदवर्धन कहते हैं–

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबंधस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

क्षेमेंद्र कहते हैं–'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।'

औचित्य रसयुक्त काव्य को स्थिर जीवन शक्ति प्रदान करता है। औचित्य के बिना काव्य में रस निष्पत्ति संभव नहीं है। औचित्य का आकलन करना काव्य को अनुशासित करने की प्रक्रिया है। विजयेंद्र स्नातक कहते हैं–'काव्य के साथ शास्त्र शब्द जुड़ने से सामान्यतः शास्त्र शब्द का 'शासनात् शास्त्रम्' अर्थ होता है अर्थात जो काव्य का शासन करे, वह काव्यशास्त्र है, किंतु काव्य शासन नहीं करता। विधि-निषेध की सीमाओं में काव्य को बांधा नहीं जा सकता। अतः शास्त्र शब्द का दूसरा अर्थ–'शंसनात् शास्त्रम्' अर्थात विषय प्रतिपादन करने वाला, यह अर्थ इस संदर्भ में समीचीन प्रतीत होता है।' काव्यशास्त्र के समुचित ज्ञान के बिना काव्य का गंभीर अनुशीलन असंभव है।

काव्यशास्त्र के अध्येतव्य विषय

आचार्य राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में लिखा है-**इह हि वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च। शास्त्र पूर्वकत्वात् काव्यानां पूर्वं शास्त्रेष्वभिनिविशेषः नह्यप्रवर्तितप्रदीपास्ते तत्वार्थमसामर्थ्यध्यक्षयन्ति।** अर्थात शास्त्र और काव्य इन भेदों से वाङ्मय दो प्रकार का है। काव्य ज्ञान के लिए शास्त्र आवश्यक है। जैसे बिना दीपक के पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार शास्त्र ज्ञान के बिना काव्य ज्ञान असंभव है। अतः काव्य से पहले शास्त्र का अभ्यास करना आवश्यक है।' काव्यशास्त्र में काव्य के स्वरूप और समस्याओं के साथ-साथ अलंकारों तथा काव्य से संबंधित अन्य विषयों का भी अध्ययन किया जाता है।

1.3 काव्य-लक्षण

काव्य मानव जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कविराज विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में लिखा है-

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते॥

अर्थात काव्य ऐसी वस्तु है, जिससे अल्पबुद्धि मानव को बिना किसी कष्ट साधना के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी पुरुषार्थ चतुष्ट की प्राप्ति हुआ करती है। अतः जो काव्य मनुष्य के जीवन में इतना महत्व रखता है वह कैसा हो, जिसे पढ़कर, आत्मस्थ करके मनुष्य चारों पुरुषार्थों को प्राप्त कर सके? इसका उत्तर भोजराज ने अपने ग्रंथ में इस तरह दिया है-

अदोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥

अर्थात काव्य वह है जो निर्दोष हो, गुणयुक्त हो, अलंकारों से अलंकृत हो और रस समन्वित हो और कवि वह है जो ऐसे काव्य की रचना करता है एवं यश और कीर्ति पाया करता है। अनेक आचार्यों ने कुछ इसी तरह के काव्य को प्रेरक और सुफलदायक बताया। काव्य का स्वरूप उसके लक्षणों या गुणों द्वारा निर्धारित किया जाता है। अनेक विद्वानों ने काव्य के स्वरूप को निर्धारित करने के लिए अपने-अपने मतानुसार अनेक परिभाषाएं दी हैं। ये परिभाषाएं ही काव्य के लक्षणों को समेटे हुए हैं। काव्य में रस हो, अलंकार हों, जो यथायोग्य एवं यथास्थिति निर्धारित हों, उचित रीति से लिखा गया काव्य हो, ध्वनि की प्रधानता हो, वक्रोक्ति हो तथा इन सबका उचित रीति-नीति से समावेश किया गया हो तभी काव्य वस्तुतः काव्य कहलाएगा। उत्तम काव्य की संज्ञा प्राप्त करेगा। औचित्य के बिना इन लक्षणों से युक्त काव्य में भी दोष उत्पन्न हो जाएंगे और तब न अलंकार अलंकारी होगा, न रस रसत्व उत्पन्न करेगा। अतः काव्य के निम्नलिखित पांच लक्षणों-रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि के साथ छठे लक्षण औचित्य का होना आवश्यक है। जैसे जीवन में औचित्य का महत्व है वैसे ही काव्य में भी। जीवन-मूल्य, सामाजिकता, नैतिक मूल्यों का निर्वाह औचित्य के आधार पर होता है। अनौचित्य के उपस्थित होते ही मनुष्य पतित हो

जाता है, जीवन नीरस और बेरंग हो जाता है उसी तरह काव्य के लक्षणों के साथ औचित्य का नाता है। तरकारी में नमक या मसालों की मात्रा अनुचित हो तो तरकारी बेस्वाद हो जाती है उसी तरह काव्य में यदि करुण रस के प्रसंग में रस की मात्रा कम या ज्यादा हो या अन्य रस समाविष्ट हो जाएं तो काव्य निम्न कोटि का हो जाता है। जिस तरह क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर से मिलकर जीव के शरीर का निर्माण हुआ है उसी तरह ये काव्य लक्षण भी आपसी तालमेल से काव्य का निर्माण करते हैं। अतः सभी अपनी-अपनी स्थिति में महत्वपूर्ण हैं। इन लक्षणों को काव्य के गुण भी कह सकते हैं। किन गुणों से या किन लक्षणों से युक्त काव्य, काव्य की श्रेणी में आता है, इस पर विचार करते हुए अनेक कथन सामने आते हैं–

1. **आचार्य विश्वनाथ** के अनुसार, "वाक्यम् रसात्मकं काव्यम्।" अर्थात रसयुक्त वाक्य ही काव्य है। रस काव्य की आत्मा है। "रसो वै सः"–वैदिक साहित्य में रस को परमानंद का पर्याय माना गया है। रस अतःकरण की वह शक्ति है जिसका आनंद अलौकिक होता है। आचार्य विश्वनाथ ने रस को काव्य की आत्मा माना है। काव्यशास्त्र में किसी कविता की भावभूमि को रस और रसपूर्ण वाक्य को काव्य कहा जाता है।

   –साहित्यदर्पण

2. **पंडितराज जगन्नाथ** के अनुसार, "रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।" अर्थात सुंदर अर्थ को प्रकट करने वाली रचना ही काव्य है। रसगंगाधर में 'रमणीय' अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा गया है। 'अर्थ की रमणीयता' के अंतर्गत 'शब्द की रमणीयता' (शब्दालंकार) भी समझकर विद्वत लोग इस लक्षण को स्वीकार करते हैं। 'अर्थ की रमणीयता' के बारे में पंडितराज जगन्नाथ का कथन है–

   "रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता।" अर्थात अर्थ की रमणीयता वह है, जिससे लोकोत्तर आह्लाद की प्राप्ति हो।

   –रसगंगाधर

3. **हेमचंद** के अनुसार, "अदोषौ सगुणौ आलंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।" अर्थात दोषमुक्त, गुणयुक्त, अलंकारिक (सुंदर) एवं अर्थपूर्ण शब्द रचना काव्य है।

4. **भामह** के अनुसार, (1) "न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।" (2) "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।" अर्थात कविता शब्द और अर्थ का उचित मेल है।

   –काव्यालंकार

   शब्द और अर्थ के समुचित सहभाव का तात्पर्य शब्द और अर्थ की उस संश्लिष्टात्मक स्थिति से है जिसमें उपयुक्त शब्द से उपयुक्त और आह्लादकारी अर्थ की प्राप्ति हो। आचार्य श्रीपति, भामह के इस आशय की अभिपुष्टि करते हुए कहते हैं-

   "शब्द अर्थ बिन दोष गुण, अलंकार रसवान।
   ताको काव्य बखानिये श्रीपति परम सुजान।।"

5. **दंडी** के अनुसार, "काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।" अर्थात काव्य-धर्म सौंदर्य है। दंडी ने 'काव्यादर्श' में शब्दार्थ के चमत्कार, काव्य के बाह्य रूप अर्थात

अलंकार को काव्य माना है। जो बात भामह ने कही है, दंडी भी उसे ही दुहराते हैं। अंतर यह है कि दंडी अर्थालंकार को काव्य के इष्टार्थ का जनक मानते हैं और भामह शब्दालंकार व अर्थालंकार दोनों को समान महत्व देते हैं। दंडी के अनुसार- "शरीरम् इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।" अर्थात अर्थ से युक्त पदावली काव्य का शरीर है।

—*काव्यादर्श*

6. **वामन** के अनुसार– वामन की दृष्टि में गुण और अलंकार से युक्त शब्दार्थ ही काव्य है। केवल शब्दार्थ को काव्य मानने की परिपाटी लाक्षणिक है। मूलतः वामन भी भामह की भांति शब्द व अर्थ के सहभाव को काव्य मानते हैं, परंतु इस सहभाव का औचित्य उनकी दृष्टि में तभी हो सकता है जब काव्य में गुण और अलंकारों का समावेश होता है। गुण और अलंकार के माध्यम से शब्दार्थ में चमत्कार, आह्लाद व कल्याण भाव की प्राप्ति हो सके, इसलिए वे कहते हैं-

"काव्यशोभाया; कर्त्तार; धर्मा गुणाः।

तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।।"

अर्थात काव्य में चारुत्व जनकता गुणों से होती है और अलंकार इस चारुता के लिए अपेक्षित है।

(क) "काव्यशब्दोऽयं गुणालंकार संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते।"

अर्थात गुणों तथा अलंकारों से भूषित शब्द और अर्थ के लिए काव्य शब्द का प्रयोग किया जाता है।

(ख) "काव्यं ग्राह्यमलंकारात्।" अर्थात काव्य अलंकार के कारण ग्राह्य होता है।

—*काव्यालंकार सूत्रवृत्तिः*

7. **मम्मट** के अनुसार, "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावानलंकृती पुनः क्वापि।" अर्थात दोष रहित तथा गुण युक्त शब्द और अर्थ का सामंजस्य ही काव्य है। मम्मट वही बात कह रहे हैं जो हेमचंद ने कही है। अंतर इतना ही है कि ये अलंकारों के सहयोग को अनिवार्य नहीं मानते।

—*काव्यप्रकाश*

कुछ विद्वानों द्वारा गुण को भी समाविष्ट कर काव्य लक्षणों–रस, ध्वनि, रीति, गुण, अलंकार, वक्रोक्ति और औचित्य, इन सातों को काव्य का अंग भी माना गया है। इनके बिना काव्य की स्थिति असंभव होती है। इन्हें स्वरूपाधायक उपादान तत्व कहते हैं। इनसे काव्य की शोभा तो बढ़ती ही है काव्य विशिष्ट भी बन जाता है। कुंतक वक्रोक्ति को ही काव्य का मूल बताते हैं।

8. **कुंतक** के अनुसार, "शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी।"

अर्थात वक्रोक्ति युक्त पदरचना में सहभाव से व्यवस्थित शब्दार्थ ही काव्य है। वह वक्रोक्ति सामाजिकों को आह्लादित करती है।

—*वक्रोक्तिजीवितम्*

9. **जयदेव** के अनुसार, "अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती। असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती।–

चंद्रालोक

अर्थात जो लोग अलंकार रहित शब्दार्थ को काव्य मानते हैं वे अग्नि को भी उष्णता रहित क्यों नहीं मान लेते।

10. **अग्निपुराण** के अनुसार, "अलंकार रहिता विधवेव सरस्वती।" अर्थात अलंकार रहित सरस्वती विधवा है। किंतु दूसरी ओर वे रस को ही काव्य की आत्मा मानते हैं–

"वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।"

"संक्षेपाद्वाक्याभिष्टार्थ-व्यवच्छित्ता पदावली।
कटव्यं स्पुटालंकार गुणवद्दोषवर्जितम्।।"

अग्निपुराणकार उक्ति चमत्कार को प्रधानता देते हैं तथा रस की सत्ता और महत्ता को स्वीकार करते हैं। आचार्य विश्वनाथ 'रसयुक्त वाक्य' को ही काव्य मानते हैं। पंडितराज जगन्नाथ कहते हैं–'जो शब्द रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करे वही वाक्य काव्य है।' अन्य चमत्कार मूलक तत्व रस के साथ पोषक तत्वों के रूप में उपस्थित रहते हैं यह विश्वनाथ और मम्मट दोनों आचार्यों ने स्पष्ट किया है। इसीलिए आचार्य विश्वनाथ की परिभाषा सटीक है। जैसे शौर्य आदि गुण आत्मा का उत्कर्ष करते हैं उसी तरह 'गुण' रसों के उत्कर्ष हेतु हैं। इसी तरह अलंकार वैसे ही शब्दार्थ के शोभाकारक अस्थायी धर्म हैं जैसे–कवच, कुंडल आदि आभूषण शरीर के। कहा जा सकता है कि काव्य उपरोक्त लक्षणों से संपन्न ऐसा साहित्य है जो सहृदय को भावलोक में पहुंचा देता है। राग-द्वेषादि से दूर कर सांसारिक बंधनों से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। व्यष्टि को समष्टि में लीन कर देता है जहां अपने-पराए का भाव शेष नहीं रह जाता।

11. "सगुण अलंकारन सहित दोषरहित जो होय।
शब्द अर्थ वारो कवित विबुध कहत सब कोय।।" *–चिंतामणि*

12. "काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है।" *–प्रसाद*

काव्य के सभी लक्षणों का अपना-अपना संप्रदाय और सिद्धांत है। इनके प्रकार, उपप्रकार हैं। काव्य के सभी लक्षण चाहे रस हो या अलंकार, रीति हो या वक्रोक्ति, ध्वनि हो या औचित्य सभी एक दूसरे से संबंधित हैं। रस, रीति और औचित्य सर्व समावेशी लक्षण हैं। सभी काव्य में किसी न किसी रूप में पाए जाते हैं। अलंकार बाह्य यानी शारीरिक होने के साथ-साथ आत्मा का गुण भी है जिससे आत्मा अलंकृत और प्रभा संपन्न होती है। वक्रोक्ति भी अलंकार का एक रूप है तथा ध्वनि भी काव्य के सभी प्रकारों में न्यूनाधिक हो या प्रबल और सटीक, उपस्थित अवश्य होती है बल्कि ध्वनि युक्त काव्य को ही कुछ काव्यशास्त्रियों ने उत्तम काव्य की संज्ञा दी है। काव्य के इन लक्षणों के संस्थापक या प्रवर्तक काव्यशास्त्र के आचार्य हैं। जैसे– 'रस' के भरतमुनि, 'अलंकार' के भामह, 'रीति' के वामन, 'वक्रोक्ति' के कुंतक, 'ध्वनि' के आनंदवर्धन, 'औचित्य' के क्षेमेंद्र।

1.4 काव्य-प्रयोजन

'काव्यत्वं दुर्लभं लोके' कहा गया है तो इसका प्रणयन निरुद्देश्य कैसे हो सकता है? सामान्यत: दो प्रयोजन माने जाते हैं–आनंद की प्राप्ति और लोक कल्याण। भरतमुनि लिखते हैं–यह नाट्य (काव्य) धर्म, यश, आयु, हित और वृद्धि का अभिवर्धक और लोकोपदेश का उत्पादक होगा–

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥

अर्थात पहला प्रयोजन धर्म यानी कर्तव्य बोध है कि मैं समाज के प्रति उत्तरदायी हूं यानी कि कवि सामाजिक कल्याण करने वाली और आनंददात्री रचना का प्रणयन करे जिससे उसे यश प्राप्त होगी। प्रसन्नचित्त और यशस्वी होने से आयु बढ़ेगी और वह समाज का हित लंबे समय तक साध सकेगा।

भामह के अनुसार–

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु स।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु काव्य निवेषणम्॥

अर्थात धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष कलाओं में दक्षता, कीर्ति और प्रीति ये काव्य के प्रयोजन हैं। वामन ने प्रीति और कीर्ति केवल दो प्रयोजन माने हैं।

कुंतक के काव्य प्रयोजनों को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है–(1) चतुर्वर्ग फलप्राप्ति (2) व्यवहार औचित्य का ज्ञान (3) चतुर्वर्ग फलास्वाद से भी बढ़ कर अंतश्चमत्कार की प्राप्ति।

मम्मट के अनुसार काव्य प्रयोजन के छह प्रकार हैं–(1) यश की प्राप्ति (2) अर्थ की प्राप्ति (3) लोक व्यवहार का ज्ञान (4) अनिष्ट निवारण (5) तात्कालिक आनंद (6) कांता सम्मित उपदेश। लगभग सभी आचार्यों ने उपरोक्त प्रयोजनों की ही चर्चा घुमा-फिरा कर की है।

साहित्य की साध्यता सोपानबद्ध होती है। उसमें हम तारतम्य का अनुभव करते हैं और एक सोपान के प्राप्त हो जाने पर दूसरा सोपान साध्य हो जाता है और पहला साधन। यह सोपानबद्धता समस्त साहित्य का ही स्वभाव है। हम यह भी कह सकते हैं कि यह साहित्य का समग्र स्वरूप है। अत: जब साध्य और साधन साहित्य के दो पक्ष हैं तब साधन और साध्य का विश्लेषण एक कठिन कार्य अवश्य है। इसका एक और कारण है। साहित्य स्वयं एक रचना है – सृष्टि है। वह जीवन के समान है, समान ही नहीं वह कल्पनागत जीवन है। अतएव साधन एवं साध्य संबंधी कठिनाई उपस्थित होती है। कुछ लोग यह मानते हैं कि मनुष्य जीवन का साध्य मोक्ष है, सत्यान्वेषण है, लोक कल्याण है, ईश्वर का साक्षात्कार है, चरम आनंदानुभूति है। गोस्वामी तुलसीदास जी का कथन है–

बड़े भाग मानुस तन पाया। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन गावा।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक संवारा॥
सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि धुनि पछिताइ।

कालहिं कर्महिं ईस्वरहिं मिथ्या दोष लगाइ।
एहि तन कर फल विषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई।।

यह विचार भक्तों का ही नहीं, आधुनिक कविश्रेष्ठ, कामायनी महाकाव्यकार प्रसाद जी का भी है कि भोग-विलास ही जीवन का लक्ष्य नहीं। विलास को ही जीवन में प्रधानता देने वाली संस्कृति विनष्ट हो जाती है और इतिहास का अनुशीलन करने पर भी हम यही देखते हैं कि जिस देश अथवा जाति में भोगवाद और विलासिता का अबाधित प्रसार एवं प्रचार हुआ, उसका तुरंत पतन हुआ है। अतः जीवन का साध्य केवल भोग नहीं अर्थात केवल जीना नहीं वरन कुछ और है, विशेष रूप से मानव-जीवन का। डॉ. नगेंद्र काव्य के दो प्रयोजन मानते हैं–व्यक्तिगत आनंद तथा सामाजिक लोकमंगल।

साहित्य के साध्य युग-युग में बदलते रहते हैं और उसके विशिष्ट रूपों का युग-युग में बदलना आवश्यक भी है। जिस प्रकार विज्ञान के लिए सिद्धांततः एक साध्य है– सत्यानुसंधान। उसके भीतर युगानुकूल विद्युत, रेडियो, अणुशक्ति आदि विशिष्ट रूप आते रहे, उसी प्रकार काव्य का भी सैद्धांतिक रूप से साध्य एक होता हुआ भी, युगानुकूल उसका साध्य बदलता रह सकता है। उसके बदलते रूप यह प्रमाणित करते हैं कि हमारी साहित्यिक चेतना प्रबुद्ध है और हम उस चेतना को लेकर जागरूक एवं क्रियाशील हैं।

यही स्पष्टीकरण अब तक प्रस्तुत साहित्य या काव्य के प्रयोजनों के संबंध में भी है। भारतीय परंपरा में हम काव्य प्रयोजन संबंधी जो विचार पाते हैं वे हैं–

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परिनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।। *(मम्मट)*

धर्मार्थ काममोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु काव्यनिषेवणम्।। *(भामह)*

उपर्युक्त प्रयोजनों के अंतर्गत जीवन की सफलता के विविध पक्ष प्रकट हुए हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष – ये जीवन के पुरुषार्थ माने जाते हैं। इन पुरुषार्थों का तारतम्य है। एक के बाद हम दूसरा पुरुषार्थ प्राप्त करते हैं और इस प्रकार एक प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर, फिर वह साध्य के स्थान पर साधन बन जाता है। इन साधनों के तारतम्य में अंतिम साध्य मोक्ष है, जो साधन नहीं बनता। मोक्ष के अंतर्गत जो ध्वनि है, वह निषेधार्थपूर्ण है, विधेयतापूर्ण नहीं। मोक्ष अर्थात जीवन से निष्क्रमण। यदि जीवन से निष्क्रमण का तात्पर्य जीवन के आनंद से निष्क्रमण है, तो कोई नहीं चाहेगा। अतः इसका तात्पर्य हुआ जीवन के दुखों से निष्कृति या मुक्ति। जीवन सुख-दुखात्मक है, अतः जब उसके दुखों से कोई मुक्त होना चाहता है, तो उसके सुखों से भी हाथ धोना पड़ता है। अतः मुक्ति आनंदहीन हुई। वह स्थिति तो जड़ सी हुई। यह जीवन को दुखपूर्ण मानने की धारणा या परिणाम है। परंतु साहित्य या काव्य की कल्पना दूसरे प्रकार की है। वह जीवन के दुखों को भी सुखों में परिणत करने का जादू है। हमारे जीवन के दुखानुभव जब काव्य या साहित्य का रूप धारण करके आते हैं, तब वे हमें दुख नहीं वरन सुख ही देते हैं। काव्य में रस का भी यही रहस्य है। रस के अंतर्गत जीवन की सुख-दुखात्मक अनुभूतियां आनंद में परिणत हो जाती हैं। इसी से हम संयोग-शृंगार के

साथ-साथ वियोग-शृंगार, हास्य के साथ-साथ करुण और वीभत्स के साथ-साथ भयानक और रौद्र रसों को प्राप्त करते हैं।

अपने लौकिक जीवन में जिन करुण, वीभत्स और भयानक परिस्थितियों की कल्पना से भी हमारा मन सिहर उठता और शरीर थर्रा उठता है, उन्हीं परिस्थितियों को साहित्य में प्राप्त कर हम बार-बार उनका आस्वादन और परिशीलन करना चाहते हैं। यह साहित्य की रासायनिक क्रिया ही है, जो इन दुखात्मक और भयावह परिस्थितियों को रमणीय रूपों में बदल देती है। साहित्य की यह क्रिया, जो मुख्यतया जीवन की पुनः रचना क्रिया है, उसके साध्य का भी संकेत करती है। जीवन की विभीषिकाओं को प्रस्तुत कर वह यह बताती है कि वे भी जीवन के अंग हैं पर दूसरी ओर सभ्यताओं का भी चित्रण करके वह स्पष्ट करती है कि जीवन का वह स्वरूप कितना प्यारा और वांछनीय है। साहित्य के अंतर्गत प्राप्त इन्हीं चित्रणों ने धीरे-धीरे मानव समाज को यह प्रेरणा दी कि सभ्यता और संस्कृति का विकास वही है, जिसमें विभीषिकाओं का ह्रास और सभ्यताओं की प्रचुरता और स्थिरता हो। समाज के नव-निर्माण हेतु कार्य करने वाले राजनीतिज्ञों, समाज-सुधारकों और समाजशास्त्रियों को साहित्य की कल्पनाओं ने ही प्रेरणा दी है और धीरे-धीरे इन्हीं कल्पनाओं को जीवन में उतारता और साकार करता हुआ मानव जीवन-पथ पर आगे बढ़ रहा है।

साहित्य का साध्य आनंद है। मोक्ष की धारणा इसकी तुलना में जीवन से एक पलायन मात्र है। साहित्य सदैव सुख-दुखमयी जीवन परिस्थितियों का चित्रण कर हमें अनुभव, प्रेरणा और संवेदन प्रदान करता है, और इन तीनों के द्वारा उसका कार्य आनंद संपादन ही है। साहित्य में वर्णित ये घटनाएं जीवन की घटनाओं के समान कटु नहीं होती और वे वैयक्तिक संबंधों से मुक्त होती हैं।

इनके द्वारा एक सामाजिक संवेदना जागृत होती है और हम एक दूसरे के अधिक निकट हो जाते हैं। हम ऐसी स्थितियों से सचेत रहते हैं या समाज से उन्हें दूर करने का प्रयत्न करते हैं। इनसे हमारे व्यक्तित्व का विस्तार होता है और हमारी संकीर्णता नष्ट हो जाती है। इस प्रकार साहित्य की दुखात्मक परिस्थितियों से भी परोक्ष संकेत, आनंद संपादन का ही रहता है और सुखात्मक परिस्थितियों में आनंद की अजस्र धारा बहती ही रहती है।

अपने इसी साध्य द्वारा साहित्य मानव-जीवन में दानवत्व का नाश और देवत्व का विकास करता रहता है। देवत्व की कल्पना का आकर्षण हमारे जीवन में भरना साहित्य का ही काम है। इसी देवत्व की उपलब्धि अपने में करके मानव जीवन देवत्व से और सबसे महान बनता जा रहा है।

1.5 काव्य-हेतु

काव्यशास्त्रियों के काव्य 'हेतु' अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हैं। न्यायदर्शन का 'हेतु' भी इनसे अंशतः मिलता जुलता है। दर्शनशास्त्र में इसे कारण कहा जाता है। 'हेतु' अर्थात वे साधन जो काव्य-रचना में कवि के सहायक होते हैं। कुछ आचार्य प्रतिभा को काव्यत्व का बीज मानते हैं और उसे ही 'हेतु' स्वीकार करते हैं। हेतु या कारण दो प्रकार के होते हैं-

(1) उपादान (2) निमित्त। अग्निपुराण में लोक-व्यवहार तथा वेद के ज्ञान को काव्य-प्रतिभा की योनि कहा गया है तथा सिद्ध किए गए मंत्र के प्रभाव से जो काव्य निर्मित होता है उसे अयोनिज कहा गया है। इससे काव्य के तीन हेतुओं का पता चलता है– (1) काव्य-प्रतिभा (2) वेद-ज्ञान और (3) लोक-व्यवहार।

भामह भी प्रतिभा को मूल 'हेतु' मानते हुए लिखते हैं–

"गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः॥" *–काव्यालंकार*

अर्थात गुरु के उपदेश से शास्त्र का अध्ययन तो जड़बुद्धि भी कर सकता है। परंतु काव्य की रचना प्रतिभावान ही कर सकता है।

दंडी– तीन हेतुओं की चर्चा करते हैं–(1) नैसर्गिक प्रतिभा (2) लोकशास्त्र ज्ञान (3) अमंद अभियोग। दंडी प्रतिभा की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी श्रम और यत्न को पर्याप्त महत्व देते हैं।

वामन ने अनेक हेतुओं की चर्चा करते हुए उन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया है– (1) लोक (2) विद्या (3) प्रकीर्ण। 'लोक' अर्थात लौकिक व्यवहार के ज्ञान को प्रथम स्थान दिया है। विद्या के अंतर्गत शब्द-शास्त्र, कोश, छंद शास्त्र, कला, दंडनीति आदि विद्याएं परिगणित की हैं। प्रकीर्ण के अंतर्गत लक्ष्य, ज्ञान, अभियोग, वृद्ध सेवा, अवेक्षण, प्रतिभान और अवधान क्रमशः को सम्मिलित किया है। प्रतिभा को तीसरे स्थान पर रखना अन्य आचार्यों को उचित नहीं जान पड़ा। कुंतक प्रतिभा को महत्व देते हैं लेकिन सर्वाधिक महत्वपूर्ण कवि स्वभाव को मानते हैं। वे कहते हैं सुकुमार स्वभाव से ही सुकुमार शक्ति उत्पन्न होती है।

मम्मट के अनुसार–(1) शक्ति (2) निपुणता और (3) अभ्यास, ये तीन काव्य हेतु हैं। निपुणता और अभ्यास ये दो नवीन शब्द मम्मट ने प्रयोग किए हैं।

राजशेखर प्रतिभा को दो भागों में बांट देते हैं–(1) कारयित्री (2) भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा कवि में और भावयित्री प्रतिभा भावक के हृदय में निवास करती है। उन्होंने पुनः कारयित्री प्रतिभा को भी तीन भागों में बांट दिया–(1) सहजा कारयित्री प्रतिभा (2) आहार्या कारयित्री प्रतिभा (3) औपदेशिकी कारयित्री प्रतिभा। इनकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं–'सहज प्रतिभा' जन्म-जन्मांतरों के संस्कारों का प्रतिफल है। 'आहार्या' वर्तमान जीवन का संस्कार है तथा 'औपदेशिकी' तंत्र, मंत्र, देवता, गुरुजन, स्वजन आदि के उपदेश एवं शिक्षा से उद्‌बुद्ध होती है।

रुद्रट के अनुसार प्रतिभा के दो प्रकार हैं–सहजा और उत्पाद्या।

अभिनवगुप्त प्रतिभा के दो रूप मानते हैं–सामान्य प्रतिभा एवं कवि प्रतिभा।

अभिनव गुप्त के गुरु भट्टतौत ने प्रज्ञा को मूलभूत शक्ति मान कर प्रतिभा को उसका एक रूप बताते हुए उसे नवोन्मेषशालिनी शक्ति कहा है। अर्थात प्रतिभा प्रज्ञा का वह रूप है जो नवीन-नवीन रूपों का सृजन तथा उद्‌घाटन करती है। प्रतिभा रसात्मक रूपों, नए रूपों का निर्माण करती है। इसमें अपूर्व वस्तु निर्माण की क्षमता है। यह शब्दार्थ के सौंदर्य को बढ़ाती है।

काव्य सृजन की प्रक्रिया के संबंध में अनेक मत हैं। कोई केवल शारीरिक दृष्टि से, कोई मानसिक और कोई आध्यात्मिक दृष्टि से इसका विश्लेषण करते हैं, परंतु काव्य-सृजन की प्रक्रिया एक साथ शारीरमानसात्मिक प्रक्रिया है। इसमें शरीर प्रमुखतया साधन और माध्यम है। प्रमुखतया क्रिया मनस्तत्व की है, जिसमें चेतना आत्मतत्व को स्पर्श और जागृत करती है। आत्म तत्व के संस्पर्शित होने पर आनंदमय उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि होती है और उसके उद्‌बुद्ध होने पर रहस्यात्मक काव्यधारा प्रवाहित होती है। सामान्यतया लौकिक काव्य मनस्तत्व अनुभूति और कल्पना को प्रेरित करता है। अनुभूति को प्रमुखतया संस्पर्श करने पर भावात्मक काव्य की तथा कल्पना के क्षेत्र को संस्पर्श करने से कलात्मक काव्य की प्रधानतया सृष्टि होती है। दोनों का सामंजस्य होने पर ही व्यापक प्रभाव वाले काव्य की रचना संभव है, जिसमें कवि का मन एक साथ कल्पना और अनुभूति दोनों ही क्षेत्रों के संस्पर्श का आनंद उठाता है। बुद्धि तत्व सामान्यतया 'भोजने लवणवत्' (भोजन में नमक के साथ) रहता है, परंतु अधिक होने पर फिर प्रचारवादी या नीति उपदेश प्रधान काव्य की रचना होती है। अनुभूति की धरती पर जब कल्पना विचरण करने लगती है, तब सुंदर भाव-कला संपन्न काव्य की सृष्टि होती है।

भारतीय साहित्य में प्रतिभा को बहुत आवश्यक एवं अनिवार्य तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है, परंतु कुछ लोगों का यह भी विचार है कि साधना द्वारा काव्य रचना की शक्ति एवं प्रतिभा संवर्धित की जा सकती है। अत: हमारे सामने प्रश्न उठता है कि क्या प्रतिभा न होने पर भी साधना और प्रयत्न द्वारा काव्य की रचना की जा सकती है? क्या काव्य रचना बिना प्रतिभा के संभव है, इस प्रश्न पर विचार करने से पहले हमें यह समझ लेना चाहिए कि प्रतिभा क्या है और क्या प्रतिभा उत्पन्न की जा सकती है? यह प्रश्न जितना प्रमाण-सापेक्ष है, उतना ही विज्ञान और मनोविज्ञान से भी संबंधित है। संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान **भट्टतौत** ने कहा है कि–

बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागामिगोचरा।
प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता॥

अर्थात तत्काल कार्य करने का निश्चय देने वाली बुद्धि है, आगामी वस्तु और परिस्थिति की कल्पना और तदनुरूप निर्णय देने वाली शक्ति मति है और जो नई-नई प्रेरणा और कल्पना देने वाली प्रज्ञा-शक्ति है, वही प्रतिभा है। इस कथन से स्पष्ट है कि प्रतिभा नई सृष्टि की प्रेरक शक्ति है। जिस शक्ति द्वारा हमारे मन में नई कल्पनाएं, उद्‌भावनाएं तथा दृष्टियां प्रकट होती रहें, वही प्रतिभा है। प्रतिभा के संबंध में ध्वन्यालोककार आनंदवर्धन का भी कुछ इसी प्रकार का मत है, उन्होंने लिखा है कि "अपूर्ववस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा" अर्थात पहले जैसी वस्तु नहीं है, वैसी वस्तु के निर्माण की क्षमता प्रज्ञा है। अतएव प्रतिभा, विशिष्ट और अधिक सक्रिय प्रज्ञा कही जा सकती है।

यह स्पष्ट है कि काव्य मूलत: नई सृष्टि है। यह नवीनता अनेक रूपों में देखी जा सकती है। वस्तु की नवीनता, भावगत नवीनता, कल्पना की नवीनता, अभिव्यक्ति की नवीनता आदि। काव्य के अंतर्गत यह नवीनता रहती ही है और वही उसकी अपूर्वता है। अत: काव्य की रचना के लिए नवीन सृष्टि संबंधी प्रतिभा आवश्यक है। इसमें दो मत नहीं हो सकते परंतु

हमारे सामने इस प्रसंग में दो प्रश्न मूलतः उठते हैं– पहला यह कि प्रतिभा जन्मजात न होने पर क्या अर्जित की जा सकती है? और दूसरा यह कि प्रतिभा के अभाव में अथवा उसकी कम मात्रा में होते हुए भी कोई अन्य साधन या तत्व है, जिनकी काव्य रचना के प्रसंग में आवश्यकता स्वीकार की जा सके?

पहले प्रश्न पर विचार करते हैं–प्रतिभा के संबंध में प्रायः मत यह है कि यह जन्मजात ही होती है। कुछ लोगों ने काव्य की शक्ति, प्रतिभा को दो रूपों में देखा है– (1) सहजा (2) उत्पाद्या।

संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान रुद्रट के विचार में सहजा प्रतिभा जन्मजात होती है और उत्पाद्या शास्त्र, लोकानुभव और संगत आदि से प्राप्त हो सकती है। इसमें संदेह नहीं कि सहजा और उत्पाद्या इन दोनों ही काव्य प्रतिभाओं में अंतर किया जा सकता है। सहजा प्रतिभा अधिक क्षमताशाली, स्वतः स्फूर्त और अजस्र सर्जनाशक्ति है, जबकि इसकी तुलना में उत्पाद्या प्रतिभा कम बलशाली, अविशिष्ट, प्रेरणास्फूर्त और कभी-कभी जागृत सर्जना शक्ति है। दोनों में अंतर होते हुए भी यह विचारणीय है कि क्या जन्मजात या सहजा प्रतिभा के न होने पर भी उसे सत्संग या प्रयत्न आदि से प्राप्त किया जा सकता है? इस संबंध में दो मत मिलते हैं, एक तो यह कि उत्पाद्या प्रतिभा के रूप में जो शक्ति काम करती है वह वास्तव में सुषुप्त, किंतु सहजा प्रतिभा शक्ति ही है और दूसरा मत यह है कि जन्म से अथवा संस्कार से प्रतिभा न होते हुए भी वह प्रयत्न द्वारा अर्जित की जा सकती है।

यह बात भी अस्वीकार नहीं की जा सकती कि जिनकी प्रतिभा जन्मजात रूप में प्रकट होती है और बाद में सत्संग, अभ्यास और प्रयत्न द्वारा प्रकट होती है, उसमें पूर्ववर्ती प्रतिभा के क्षीण बीज विद्यमान रह सकते हैं। यह संभव है कि प्रतिभा मूलतः ऐसे व्यक्तियों में रही हो, परंतु उपयुक्त अवसर के अभाव में उसका प्रस्फुटन तभी हुआ हो, जब अन्य साधन प्राप्त हुए हों। ऐसी दशा में आचार्य दंडी का यह कथन है कि–

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबंधि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन न वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥

साधना के परिणामस्वरूप वाणी जिन पर कृपा करती है, उनके भीतर प्रतिभा का कुछ न कुछ तत्व पहले भी विद्यमान रह सकता है और जिनमें यह जन्मजात प्रतिभा का बीज प्रबल है उनमें काव्य का स्वतः स्फुरण होने लगता है, परंतु जिनमें वह क्षीण है उनमें वह अध्ययन, अभ्यास और सत्संग से उपयुक्त अवसर आने पर प्रकट होता है। इस प्रकार जिनमें बाद में कवि प्रतिभा प्रस्फुटित हुई, उनमें प्रतिभा का बीज क्षीण था। इसी स्थिति में प्रतिभा के लिए साधना का महत्व स्वीकार किया जा सकता है।

निष्कर्ष यह निकलता है कि जहां जन्मजात प्रतिभा नहीं दिखलाई देती, वहां वह अभ्यास और प्रयत्न से प्रकट की जा सकती है और जो साधन इस प्रतिभा के प्रकट होने में सहायक होते हैं, वे व्युत्पत्ति और अभ्यास माने गए हैं। व्युत्पत्ति का तात्पर्य लोक और शास्त्र का ज्ञान और अभ्यास का तात्पर्य कवि कर्म में अनवरत संलग्न रहना है। इन दोनों साधनों से कम बलवती प्रतिभा भी काव्य-रचना के कार्य में संलग्न रहती है और उत्तम काव्य-सृष्टि

कर सकती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि थोड़ी बहुत प्रतिभा के विद्यमान होने पर भी कवि आलसी या लापरवाह है, तो उसकी प्रतिभा का कोई परिणाम नहीं होता और वह व्यर्थ जाती है। अतएव इन साधनों से प्रतिभा-तत्व का अंकुरण और पल्लवन समुचित रीति से हो जाता है, इनमें संदेह नहीं। इसीलिए संस्कृत के आचार्यों ने प्रतिभा को काव्य का निमित्त कारण और संत्संग, अभ्यास और व्युत्पत्ति आदि को उपादान कारण माना है। आचार्य वामन ने काव्य का मूल कारण प्रतिभा को ही स्वीकार किया है। आचार्य जयदेव ने भी इस संबंध में लिखा है कि प्रतिभा काव्य का बीज है और व्युत्पत्ति आदि मिट्टी के समान है और अभ्यास पानी के समान। जिस प्रकार बीज के अंकुरण और विकास के लिए पानी की आवश्यकता है, उसी प्रकार प्रतिभा के विकास के लिए व्युत्पत्ति और अभ्यास की आवश्यकता है। इसी प्रकार का मत हेमचंद्र का भी है कि प्रतिभा काव्य का मूल कारण है और व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य के कारण नहीं वरन् संस्कार हैं। इनके द्वारा काव्य संबंधी प्रतिभा, परिष्कृत और विकसित होती है। हिंदी काव्यशास्त्री डॉ. नगेंद्र मानते हैं कि कवि अपनी प्रतिभा, निपुणता तथा अभ्यास के बल पर काव्य रचना करता है।

उपर्युक्त मतों से यही बात स्पष्ट होती है कि काव्य का मूल कारण प्रतिभा है और किसी-किसी रूप में उसके होने पर ही व्यक्ति काव्य की रचना कर सकता है, परंतु इस प्रसंग में एक और बात विचारणीय है। वह यह है कि क्या जन्मजात काव्य-प्रतिभा न होने पर भी प्रतिभा के संस्कार डाले जा सकते हैं। इस दृष्टिकोण के संबंध में प्रसिद्ध इटैलियन सौंदर्यशास्त्री क्रोचे का मत विचारणीय है, जो यह कहता है कि प्रत्येक मनुष्य जन्मजात कवि होता है। कोई बड़ा और कोई छोटा। प्रतिभा की बात उसकी दृष्टि से एक प्रकार का अंधविश्वास या रूढ़ि है, जो मनुष्य में काव्य-रचना की शक्ति के परिणाम में अंतर होने के कारण उत्पन्न हो गई है। क्रोचे का कथन निस्सार नहीं है। प्रत्येक मनुष्य में जिस प्रकार से बुद्धि, अनुभूति कल्पना-शक्ति होती है, परंतु प्रत्येक में उनका व्यवहार समान रीति से नहीं होता, उसी प्रकार यह सोचा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति में किसी-किसी रूप में काव्य-प्रतिभा होती है, यह काव्य-प्रतिभा समय पाकर प्रस्फुटित होती रहती है और उसका विकास भी होता रहता है।

परिस्थितियों और प्रयत्नों के कारण जिनकी प्रतिभा जितनी ही स्वच्छ होती है, वे उतना ही उत्तम काव्य कर सकते हैं, क्योंकि प्रतिभा का विकास परिस्थितियों एवं प्रयत्नों के कारण नियंत्रित रहता है। भगीरथ मिश्र कहते हैं–इस संबंध में जो स्थिति अन्य मानसिक शक्तियों की है, वही स्थिति प्रतिभा के संबंध में कही जा सकती है। जिस प्रकार हम प्रयत्न से अनुकूल परिस्थितियां पाकर अपनी अन्य मानसिक शक्तियां बढ़ा सकते हैं, उसी प्रकार प्रतिभा को भी विकसित कर सकते हैं। मानव-मस्तिष्क एक खेत के समान है जिस प्रकार खेत में बीज बोने पर वे अंकुरित होते हैं उसी प्रकार मानव अंत:करण में भी विभिन्न प्रकार के संस्कार डाले जा सकते हैं और काव्य-रचना के संस्कार भी उसके भीतर पड़ सकते हैं। जिसे हम काव्य-प्रतिभा कहते हैं, वह संवेदन-चेतना, कल्पना और भाषागत क्षमता का समन्वित रूप है। जहां ये तीनों ही एक साथ मिल जाती हैं, वहीं काव्य रचना कोई दुर्लभ वस्तु नहीं है। ऐसी दशा में स्वस्थ शरीर और मन वाले किसी भी व्यक्ति के भीतर काव्य-रचना के बीज अंकुरित होते हैं और हो सकते हैं।

काव्य-रचना के प्रसंग में एक और पक्ष विचारणीय है, वह है प्रेरक परिस्थितियों का। इनके अंतर्गत मनुष्य की वैयक्तिक रुचि और आकांक्षा, उसकी सामाजिक और पारिवारिक स्थितियां तथा आत्माभिव्यक्ति महत्वपूर्ण है। इन प्रेरक परिस्थितियों के सम्यक रूप से सक्रिय हो जाने पर काव्य-रचना के लिए बहुत बड़ी भूमिका तैयार हो जाती है।

संस्कृत और हिंदी साहित्य इस बात का साक्षी है कि किस प्रकार काव्य का उत्कृष्ट विकास उन प्रेरक परिस्थितियों के कारण हुआ। महर्षि वाल्मीकि को क्रौंच-वध ने व्याकुल कर उनके अंतर्गत शोक के भाव-समुद्र को इतना आंदोलित कर दिया कि यह राम की आदिम गाथा रामायण के रूप में प्रकट हुई। संस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि कालिदास के संबंध में भी यह बात पूर्णतया सत्य है कि उनकी पत्नी के तीन प्रेरक शब्दों (अस्ति, कश्चित्, वाग्विशेष:) ने ही उन्हें तीन महान ग्रंथों की सृष्टि की प्रेरणा दी।

हिंदी साहित्य में चंद, विद्यापति, भूषण और बिहारी जैसे कवियों को उनके आश्रयदाता और नायकों के व्यक्तित्व ने जो प्रेरणा दी, उसी के परिणामस्वरूप इनकी कृतियों का निर्माण हुआ। गोस्वामी तुलसीदास, नंददास और घनानंद को भी प्रेरित करने वाले कतिपय विशिष्ट व्यक्तित्व ही थे। आधुनिक काल में भी भारतेंदु, मैथिलीशरण गुप्त, दिनकर, निराला आदि को काव्य की प्रेरणा देने में समकालीन देश और समाज की परिस्थितियों का अत्यंत प्रभाव है।

अत: कहा जा सकता है कि प्रतिभा अर्थात काव्य रचना की क्षमता विकसित की जा सकती है और उसको विकसित करने में प्रेरक परिस्थितियां, लोकशास्त्र ज्ञान तथा अभ्यास महत्वपूर्ण होते हैं। यदि हम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो यह स्वीकार करना पड़ता है कि हमारे मनस्तत्व के अंतर्गत सभी प्रकार की प्रवृत्तियों और क्षमताओं के संस्कार विद्यमान रहते हैं। साधनों और परिस्थितियों के प्रभाव से इन संस्कारों में से कोई भी संस्कार प्रबल होकर क्रियाशील हो जाता है और परिणामस्वरूप किसी प्रकार के कार्य का सूत्रपात होता है। प्रतिभा के विश्लेषण के प्रसंग में हमने देखा है कि वह कल्पना-शक्ति, संवेद्यता और अभिव्यक्ति-क्षमता संबंधी अतिशय जागरूकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ये सभी शक्तियां और क्षमताएं किसी-किसी मात्रा में सभी के मस्तिष्क में विद्यमान रहती हैं। प्राय: इनका विकास प्रकृति अर्थात स्वभाव पर अवलंबित रहता है। जिस व्यक्ति की परिस्थितियां प्रेरक हुईं और समुचित साधन भी प्राप्त हुए, साथ-साथ जो आत्मज्ञान से भी अपनी क्षमताओं के विकास संबंधी चेतना से संपन्न हुआ, वह काव्य की रचना अवश्य कर सकता है। क्रोचे के मत को इस अंश में मानना अनुचित न होगा कि काव्य-रचना के तात्विक संस्कार प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान होते हैं, इसलिए जन्म से प्रत्येक व्यक्ति कवि है। उसकी काव्य-प्रतिभा को विकास की प्रेरणा देने वाली व्यक्तिगत और सामाजिक परिस्थितियों पर ही यह निर्भर करता है कि वह बड़ा कवि होगा कि साधारण। यदि परिस्थितियों के कारण उसके मानसिक संस्कारों की स्वच्छता और स्वस्थता बनी रहती है, तो वह किसी न किसी रूप में कवि कर्म करता रह सकता है।

काव्य-रचना के प्रसंग में प्रतिभा के साथ-साथ साधना का भी महत्वपूर्ण हाथ है। प्रतिभा का विकास साधना द्वारा होता है। जागृत प्रतिभा या काव्य के संस्कार अनवरत साधना से भली-भांति प्रस्फुटित होते हैं। इसके साथ ही साथ काव्य-प्रतिभा के सुप्त संस्कार भी

साधना द्वारा प्रबुद्ध होते हैं और काव्य-रचना संभव हो सकती है। साधना के लिए प्रेरक परिस्थितियों के साथ-साथ वैयक्तिक संकल्प और निष्ठा की बड़ी आवश्यकता होती है और यदि साधना के लिए दोनों ही बातें प्राप्त हो गईं, तो काव्य-प्रतिभा का समुचित विकास अवश्य होता है।

प्रतिभा एक प्रकार की मानसिक क्षमता है और उस क्षमता का, उपयोग के बाद क्षीण होना भी स्वाभाविक है। ऐसी प्रेरक परिस्थितियां कवि के जीवन में नहीं रह पातीं जिनसे वह जीवन भर उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि करता रहे। तीसरा कारण यह भी है कि बहुत से कवि काव्यगत प्रसिद्धि प्राप्त हो जाने के उपरांत स्वतः स्फूर्त रूप में नहीं, वरन किसी के कहने या अन्य बाहरी दबावों के वश कविता लिखते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कविता लिखने का निर्णय बौद्धिक आग्रह से होता है और उसी आग्रह या आवश्यकतावश कविता की रचना की जाती है। ऐसी दशा में सहज और उत्कृष्ट काव्य-रचना की आशा नहीं की जा सकती। आवश्यक यह है कि काव्य का रचयिता सच्चा और निष्ठावान हो और वह अपनी काव्य-क्षमता का उपयोग तभी करे, जब उसके अंतःकरण में रचना की वास्तविक प्रेरणा जाग्रत हो। ऐसा न होने पर वह अपनी प्रतिभा के प्रति सच्चा नहीं कहा जा सकता। काव्य-प्रतिभा के संबंध में यह बात स्वीकार की जा सकती है कि वह सदैव ही किसी के चाहने पर जाग्रत नहीं होती, उसके इसी स्वभाव के कारण उसे अलौकिक कहा गया है। जिस समय वह जागरूक रहती है उस समय काव्य का सृजन अनायास होता चलता है। जिस समय वह सचेत नहीं है, उस समय उसको बहुत प्रयत्न करके भी, प्रस्फुरित नहीं किया जा सकता। इसलिए हमें स्पष्ट रीति से समझना चाहिए कि काव्य-प्रतिभा का संस्कार होना एक अलग वस्तु है और उस प्रतिभा को जब चाहें तब उपयोग में लाना यह उससे भिन्न वस्तु है। काव्य के संस्कार सभी में थोड़े बहुत विद्यमान रहते हैं, परंतु काव्य-प्रतिभा को हम अपनी या किसी दूसरे की इच्छा या उपयोगिता के वशीभूत होकर सक्रिय नहीं बना सकते।

इकाई 2 काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय -I

2.0

काव्य शास्त्र का दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धांत 'अलंकार सिद्धांत' है। रस आत्मा है तो अलंकार काव्य का शरीर है। अलंकार काव्य शरीर के बाह्य धर्म हैं तथा गुणालंकार के रूप में आंतरिक धर्म भी है इसलिए इसे काव्य की आत्मा मानने का विवाद भी चला। अलंकार शोभावर्धक आभूषण हैं जो काव्य की शोभा बढ़ाते हैं। 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' अर्थात शब्द और अर्थ से मिलकर काव्य बनता है। इसी को आधार बनाकर अलंकार के इन प्रकारों का अध्ययन किया गया है– शब्दालंकार, अर्थालंकार। अलंकारों का वर्गीकरण अर्थात अलंकारों के भेदों या प्रकारों के साथ 'अलंकार' की अवधारणा, विभिन्न विद्वानों द्वारा अलंकार सिद्धांत की स्थापनाओं की जानकारी इस शीर्षक के अंतर्गत प्राप्त होती है।

रीति संप्रदाय सदैव प्रासंगिक रहा है। मनुष्य जीवन हो या काव्य रचना (साहित्य रचना) जीने व रचने की कोई न कोई रीति होती है अतः काव्यशास्त्र के इस महत्वपूर्ण सिद्धांत की प्रासंगिकता बनी रहेगी। रीति काव्यात्मा नहीं हो सकती। यह एक साधन है। साध्य तक पहुंचने का। आचार्य वामन ने इसे प्रतिष्ठित करके काव्यशास्त्र पर उपकार किया है। यह सिद्धांत अन्य लक्षणों का साथी है और सभी सिद्धांत एक दूसरे के अन्योन्याश्रित है।

आगे चलकर आचार्य आनंदवर्धन ने ध्वनि को काव्यात्मा घोषित किया। ध्वनि काव्यात्मा तो नहीं है लेकिन रस जो काव्यात्मा है की सहायक, उपकारक हो सकती है। ध्वनि अर्थात व्यंजना जिसका संबंध वक्रोक्ति से भी है। अतः ध्वनि और अलंकार का घनिष्ठ संबंध है। आनंदवर्धन का ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' प्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण ग्रंथ है जो ध्वनि को व्याख्यायित करता है तथा अन्य काव्य लक्षणों से इसके संबंध को दर्शाता है।

काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति सिद्धांत का स्थान विशेष महत्व का है। वक्रोक्ति, व्यंजना के माध्यम से अलंकार और ध्वनि से संबंधित है, अतः यह विस्तृत अध्ययन को आधार प्रदान करता है। आचार्य कुंतक ने 'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्' कहकर इसे काव्य की आत्मा घोषित किया है। यह काव्यात्मा तो नहीं है लेकिन काव्यात्मा तक पहुंचने का सर्वोत्तम साधन है। वक्रोक्ति करना, कहना, लिखना साहस और नैतिकता की मांग करता है। इसके मूल में सत्य छिपा रहता है अतः यह महत्वपूर्ण दार्शनिक व्याख्या उपस्थित करने वाला सिद्धांत है।

काव्यशास्त्र का अंतिम मान्य सिद्धांत औचित्य है जिसकी चर्चा लगभग सभी आचार्यों ने प्रथम सिद्धांत 'रस' के समय से ही की है। भरतमुनि से अद्यतन सभी आचार्य औचित्य के महत्व को स्वीकार करते हैं। यह काव्यात्मा रस की भी आत्मा माना गया है। औचित्य सिद्धांत के प्रणेता या व्यवस्थापक आचार्य क्षेमेंद्र ने 'औचित्य विचार चर्चा' में इसके संपूर्ण स्वरूप पर प्रकाश डालकर यह सिद्ध किया है कि जीवन और साहित्य के हर क्षेत्र में औचित्य आवश्यक है।

2.1 इकाई के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

- काव्यशास्त्र के अलंकार संप्रदाय की अवधारणाओं से परिचित हो पाएंगे;
- अलंकारों के वर्गीकरण की सूची तैयार कर पाएंगे;
- रीति संप्रदाय की विशेषताओं का वर्णन कर पाएंगे;
- रीति के स्वरूप एवं शैली का विश्लेषण कर पाएंगे;
- रीति सिद्धांत की प्रमुख स्थापनाओं का विवेचन कर पाएंगे;
- ध्वनि संप्रदाय की अवधारणाओं एवं स्वरूप का अध्ययन कर पाएंगे;
- ध्वनि सिद्धांत की प्रमुख स्थापनाओं को जान पाएंगे;
- ध्वनि काव्य के प्रमुख भेदों की समीक्षा कर पाएंगे;

- वक्रोक्ति संप्रदाय के स्वरूप एवं मूल स्थापनाओं का वर्णन कर पाएंगे;
- वक्रोक्ति के भेद एवं अभिव्यंजना पक्ष का विश्लेषण कर पाएंगे;
- औचित्य सिद्धांत के स्वरूप को परिभाषित कर पाएंगे;
- औचित्य सिद्धांत की मूल स्थापनाओं का परीक्षण कर पाएंगे।

2.2 अलंकार संप्रदाय

'अलंकार' का सामान्य अर्थ है–गहना या आभूषण जो देह की शोभा बढ़ाते हैं। काव्य के संदर्भ में भी इसे शोभा बढ़ाने वाले धर्म और तत्व के रूप में लिया जाता है। बाह्य तत्व के रूप में काव्य को अलंकृत करने वाले शब्दालंकार तथा धर्म के रूप में शब्द की आत्मा में धारित यानी अर्थ को अलंकृत करने वाले अर्थालंकार। काव्य की आत्मा 'रस' है या अन्य कोई लक्षण इस तर्क-वितर्क के आरंभिक दौर में सर्वप्रथम अलंकार सिद्धांत का जन्म हुआ। काव्य की आत्मा अलंकार है, ऐसा मत इस सिद्धांत के अंतर्गत स्थिर हुआ। आचार्य भामह इस संप्रदाय के प्रवर्तक हैं। आचार्य रुद्रट एवं जयदेव ने इस सिद्धांत को प्रतिष्ठा प्रदान की।

2.2.1 अलंकार की अवधारणा

'अलंकार' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से मानी जाती है–(1) **अलंक्रियते अनेन इति अलंकार:** और (2) **अलंकरोति इति अलंकार:**। पहली व्याख्या के अनुसार अलंकार की प्रतिष्ठा एक उपादान या 'करण' के रूप में सिद्ध होती है और यह काव्य के मूल से उसका पार्थक्य बताती है। दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार अलंकार काव्य का वह तत्व है जो उसे (काव्य को) सुंदर बनाता है। अर्थात यह काव्य का ही एक अंग है जो उसका सौंदर्याधायक तत्व है। अलंकारवादियों ने इन दोनों ही व्युत्पत्तियों को आधार मानकर यथास्थान और यथावश्यकता अलंकार की व्याख्या और उसकी महत्ता का दिग्दर्शन कराया है।

2.2.2 अलंकार सिद्धांत की प्रमुख स्थापनाएं

अलंकारवादियों ने अलंकार को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए अलंकार रहित रचना को काव्य मानने से इनकार किया है। ऐसी घोषणा सर्वप्रथम भामह ने की। उनके अनुसार नारी का मुख सुंदर होते हुए भी आभूषणों के बिना शोभा नहीं देता–

'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिता मुखम्।' अलंकारवादियों ने 'शोभा' शब्द का प्रयोग काव्य के मुख सौंदर्य के अर्थ में या फिर उसकी आत्मा के अर्थ में किया है। भामह की उक्त पंक्ति से स्वत: सिद्ध होता है कि 'भामह' की दृष्टि में वनिता के स्वाभाविक सौंदर्य का अलंकारों के बिना कोई मूल्य नहीं है। भामह कथन के दो रूप मान कर चलते हैं–

(1) कथन का प्रकृत रूप अर्थात अनलंकृत रूप और (2) रमणीय अर्थात अलंकृत रूप। इनमें प्रथम अकाव्य या वार्ता है तथा दूसरा अपने समग्र रूप में काव्य है और यही अलंकार है। वस्तुत: भामह ने अलंकार और अलंकार्य में भेद नहीं किया, क्योंकि उनकी

दृष्टि में समग्र काव्य ही अलंकार है। अतः उससे भिन्न किसी अन्य तत्व की कल्पना उनकी सीमा से बाहर की वस्तु थी। अलंकार और अलंकार्य की धारणा का श्रीगणेश ध्वनिवादियों ने किया था। कुंतक की दृष्टि भी इस तथ्य की ओर गई थी किंतु उन्होंने इसे केवल प्रतिपादन का माध्यम मात्र स्वीकार किया, क्योंकि उनकी दृष्टि में 'शब्द' 'अर्थ' और 'अलंकार' की समष्टि का नाम काव्य है। इन्हें एक दूसरे से पृथक करके नहीं देखा जा सकता। भामह ने अलंकार के मूल में अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति को माना है। उक्ति की अतिशयता या चमत्कार ही अलंकार है और वक्रोक्ति तथा अतिशयोक्ति में कोई अंतर नहीं है। दोनों का अर्थ ही 'विशिष्ट उक्ति' है। अंत में भामह अपने मंतव्य को पूर्णतः स्पष्ट कर देते हैं, जब यह कह देते हैं कि 'कोऽलंकारोऽनया विना' अर्थात वक्रोक्ति के अभाव में किसी भी अलंकार की कल्पना नहीं कर सकते। वक्रोक्ति के द्वारा ही अर्थ का विभावन होता है अर्थात अर्थ में वैचित्र्य आ जाता है। भामह ने अतिशयोक्ति को 'लोकातिक्रांतगोचरा' अर्थात शब्दार्थ के इतिवृत्त कथन से भिन्न चमत्कारपूर्ण प्रयोग कहा है और उसे ही फिर वक्रोक्ति कह दिया है–'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः' इससे स्पष्ट है कि 'वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति' दोनों ही 'लोकातिक्रांत गोचरा' अर्थात लोककथन से भिन्न विशिष्ट अर्थ का द्योतन कराने वाला कथन वक्रोक्ति है।

भामह ने अन्य का संकेत देते हुए 'स्वभावोक्ति' को भी एक अलंकार के रूप में अपनी स्वीकृति दी है, क्योंकि इन्होंने उक्त अलंकार का लक्षण भी दिया है और उदाहरण भी। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भामह इसे एक अलंकार के रूप में स्वीकार करते हैं।

सर्वप्रथम अलंकारों का क्रमबद्ध वैज्ञानिक विवेचन 'काव्यालंकार' में भामह ने किया। भामह ने अपने पूर्ववर्ती 'मेधाविन' का उल्लेख किया है जिससे यह पता चलता है कि अलंकार परंपरा पहले से चली आ रही है। लेकिन 'मेधाविन' या किसी भी रचनाकार का अलंकार संबंधी कोई ग्रंथ उपलब्ध न होने के कारण 'काव्यालंकार' को ही अलंकार संप्रदाय का प्रथम प्रामाणिक, उपयोगी और महत्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। भरत ने इससे पूर्व 'नाट्यशास्त्र' में अलंकारों का वर्णन करते हुए उपमा, रूपक, दीपक और यमक चार अलंकारों को मान्यता दी थी। 'उपमा दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा। काव्यस्यैते अलंकाराश्चत्वारः परिकीर्तिताः।' बाद में लगभग सभी आचार्यों ने अलंकारों की सत्ता को स्वीकार किया। किसी ने अलंकारों को काव्य का मुख्य तत्व माना तो कुछ ने काव्य में अलंकारों का महत्व है, ऐसा स्वीकार किया। भामह कहते हैं काव्य की आत्मा अलंकार है रस आदि का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है बल्कि वे अलंकारों में ही उनका अंतर्भाव स्वीकार करते हैं।

'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः' अर्थात वे शब्द और अर्थ के वैचित्र्य को अलंकार की संज्ञा देते हैं। यह विचित्रता वक्रोक्ति में भी पाई जाती है अतः कहा जा सकता है कि अलंकार काव्य की आत्मा है और अलंकारों में वक्रोक्ति का स्थान मुख्य है। वक्रोक्ति अलंकारों को जीवन देने वाला तत्व है। भामह की दृष्टि में वक्रोक्ति से रहित कोई अलंकार नहीं होता। भामह कहते हैं–**'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते। यत्नोऽस्यांकविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।'**

रुद्रट वक्रोक्ति को शब्दालंकार और वामन अर्थालंकार मानते हैं क्योंकि इसमें शब्द और अर्थ दोनों की विचित्रता होती है। भामह के बाद दंडी का मत महत्वपूर्ण है। वे काव्य के सौंदर्य को बढ़ाने वाले धर्मों को अलंकार मानते हैं–**'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।'**

अलंकार को काव्य का नित्यधर्म मानते हुए उन्होंने अतिशयोक्ति को अलंकारों का सर्वस्व बताया–

'अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्॥

दंडी ने काव्य के परिप्रेक्ष्य में अलंकारों को स्पष्ट किया है जबकि भामह ने सिद्ध किया कि–"काव्य एक स्वतंत्र एवं अपने में पूर्ण इकाई है।" फलतः दंडी ने काव्य-सौंदर्य के सभी तत्वों को अलंकार के अंतर्गत समाहित करने का प्रयास किया है। आपके अनुसार काव्य का विषयगत सौंदर्य सामान्य अलंकार का अंग है तो शैलीगत सौंदर्य विशेष अलंकार में समाहित हो जाता है। दंडी ने रसों को भी रसवत् अलंकारों के अंतर्गत सन्निविष्ट कर अलंकार्य और अलंकार की अभिन्नता की घोषणा कर दी। उधर दूसरी ओर दंडी वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति में अंतर मान कर चलते हैं किंतु भामह जहां स्वभावोक्ति को अलंकार मान कर उसे वक्रोक्ति के अंतर्गत परिगणित कर लेते हैं, वहां दंडी इसे इससे भिन्न रूप में स्वीकार करते हैं। उन्होंने समस्त वाङ्मय को दो वर्गों–स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति में विभाजित कर स्वभावोक्ति का शास्त्रादि में साम्राज्य बताया है तथा वक्रोक्ति को इससे भिन्न चमत्कारपूर्ण उक्ति का पर्याय कहा है। आपका कथन इस प्रकार है–

आगे चल कर दंडी स्पष्ट कर देते हैं कि 'शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यम्'। काव्यादर्श की हृदयंगमा टीका में स्पष्ट करते हुए टीकाकार लिखते हैं कि 'वक्रोक्ति शब्देन उपमादयः संकीर्णपर्यन्ता अलंकारा उच्यन्ते।' दंडी ने वक्रोक्ति के मूल में चमत्कार के लिए किसी-किसी रूप में 'श्लेष' का योग माना है–'श्लेषो सर्वासु पुष्णाति प्रायः वक्रोक्तिषु श्रियम्'। यहां पर वे चमत्कार का श्रेय अकेली वक्रोक्ति को न देकर 'श्लेष' को भी महत्व प्रदान करते हुए दिखाई देते हैं। दूसरी ओर भामह की तुलना में दंडी स्वभावोक्ति को अलंकार मानते हैं किंतु उसे वक्रोक्ति से भिन्न आद्य अलंकार के रूप में स्वीकार कर उसे शास्त्रीय उक्तियों की प्रयोजक बता कर एक प्रकार से काव्य-जगत् से बहिष्कृत कर देते हैं और स्वभावोक्ति को अनिवार्य न मानकर वांछनीय ही मानते हैं।

वामन की भी गणना एक रूप से अलंकारवादियों में की जाती है। अंतर केवल इतना है कि जहां भामह और दंडी काव्य में अलंकार को कारक धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं, वहां वामन अलंकार की शोभा को अतिशयता प्रदान करने वाले एक सहायक तत्व के रूप में प्रतिपादित करते हैं–**काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः तदतिशय- हेतवस्त्वलंकाराः।** अर्थात काव्य का शोभाकारक धर्म गुण है और अलंकार उन्हें अतिशयता प्रदान करते हैं। किंतु एक अन्य स्थल पर वे अलंकार को सौंदर्य का पर्यायवाची बता देते हैं, यथा–सौंदर्यालंकारः। साथ ही यह भी कहते हैं कि 'काव्य अलंकार के कारण ही ग्राह्य होता है–'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्'। ये दोनों उक्तियां यदि देखा जाए तो पूर्वोक्त कथन 'तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः' और 'रीतिरात्मा काव्यस्य' के विपरीत सी जान पड़ती है। आधुनिक आलोचक तो सौंदर्य को

ही काव्य का प्राण मानते हैं और स्वयं वामन भी यह मानते हैं कि काव्य अलंकार के कारण ही ग्राह्य होता है, तब रीति और गुण के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है। वामन ने भी संभवत: अपने कथन के विरोधाभास को समझ लिया था। फलत: आगे के सूत्रों में उन्हें अपने कथन में सुधार करना पड़ा कि गुण काव्य का नित्य धर्म है और अलंकार अनित्य धर्म है। फलत: 'गुण' काव्य में सौंदर्य की सृष्टि कर सकता है किंतु अकेला अलंकार काव्य में सौंदर्य की सृष्टि नहीं कर सकता।

कुंतक के अनुसार काव्य न तो अलंकार है न अलंकार्य, बल्कि दोनों का समन्वित रूप ही काव्य है अर्थात सालंकार काव्य का ही काव्यत्व है। इससे स्पष्ट है कि कुंतक काव्य में अलंकार के पक्षधर हैं किंतु वे अलंकार को काव्य का शोभाकारक धर्म नहीं मानते। कुंतक ने वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति को पृथक-पृथक मान कर स्वभावोक्ति को अलंकार्य और वक्रोक्ति को अलंकार की संज्ञा से अभिहित किया है। कुंतक का कथन है कि स्वभावोक्ति का अर्थ है– स्वभाव ही उक्ति का विषय अथवा वर्ण्य विषय है। यदि वही अलंकार हो जाए तो उससे मिले शरीर स्थित कौन सी वस्तु रह जाएगी, जो अलंकार्य कहलाएगी अर्थात कुछ नहीं। स्वभाव कथन तो काव्य का शरीर है और यदि वही अलंकार हो जाए तो वह दूसरे किसको अलंकृत करेगा? कहीं कोई स्वयं अपने कंधे पर भी चढ़ सकता है? इन सबको अधिक स्पष्ट करते हुए कुंतक एक स्थान पर लिखते हैं कि 'अन्य पर्याय शब्दों के रहते हुए भी विवक्षित अर्थ का बोधक केवल एक शब्द ही वस्तुत: शब्द है।' इसी प्रकार सहृदयों के हृदय को आनंदित करने वाला अपने स्वभाव से सुंदर अर्थ ही वास्तव में अर्थ है। ये दोनों (शब्द और अर्थ) ही अलंकार्य होते हैं। वैदग्ध्य-पूर्ण उक्ति रूप वक्रोक्ति ही उन दोनों का अलंकार है।

आचार्य उद्‌भट का नाम भी अलंकारवादी आचार्यों में आता है। इन्होंने भामह के काव्यालंकार की टीका की तथा 'काव्यालंकार सार संग्रह' ग्रंथ की रचना की। इन्होंने गुण और अलंकार को अभिन्न माना। उद्‌भट अलंकार को काव्य का अभिन्न अंग मान कर चलते हैं और उनकी दृष्टि कुंतक की तरह की 'सालंकार काव्यता' को ही मान कर चलती है। दूसरी ओर वे गुण और अलंकार को काव्य में चारूता का द्योतक मानते हैं। वक्रोक्ति को अलंकार के मूल में होने को अपनी स्वीकृति प्रदान कर देते हैं किंतु दूसरी ओर स्वभावोक्ति को भामह की तरह अकाव्य नहीं मान कर उसे एक अलंकार के रूप में मानते हैं किंतु दंडी की तुलना में वे इसके क्षेत्र को सीमित कर देते हैं। भोजराज ने 'अलंकारैरलंकृतम्' का भी प्रतिपादन किया–

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन्कीर्तिंप्रीतिं च विन्दति॥

रुद्रट के अनुसार 'वास्तव' अलंकार है और 'वास्तव' अलंकार का यह लक्षण है– 'वास्तव' में वस्तु के स्वरूप का कथन होता है किंतु इसका पुष्टार्थ (रमणीयार्थ) वैपरीत्य, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष आदि पर निर्भर नहीं रहता।' इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि रुद्रट 'वास्तव' अलंकार में अप्रस्तुतविधान को स्वीकार नहीं करते तथा वस्तु के स्वरूप कथन में भी चमत्कार के अभिनिवेश को स्वीकार करते हैं। संभवत: वह वस्तु के प्राकृत सौंदर्य का वाचक है; जैसे–

वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तु-स्वरूपकथनं यत्।
पुष्टार्थमविपरीतं निरुपममनतिशयम् अश्लेषम्॥

ऐसा प्रतीत होता है कि रुद्रट वस्तु के आकृतिगत प्राकृत सौंदर्य को अधिक महत्व देते हैं। महिम भट्ट के अनुसार चारुत्व ही अलंकार है। यह चारुत्व वैचित्र्य का ही पर्याय है। अतः शब्दार्थ की विच्छित्ति ही अलंकार है। यहां पर विचारणीय विषय दो हैं–(1) चारूत्व के बिना (वस्तु के अपकर्ष और उत्कर्ष) काव्य आम्नाय नहीं होता, किंतु (2) कवि अलंकार की सिद्धि के लिए नहीं अपितु रस या सौंदर्य सिद्धि के लिए काव्य रचना करता है। अलंकार तो स्वतः ही सौंदर्य सिद्धि के लिए काव्य में प्रविष्ट हो जाते हैं, क्योंकि अलंकार रस के साथ बिना किसी प्रयत्न के ही सिद्ध हो जाते हैं। उपर्युक्त कथनों से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि महिम भट्ट की दृष्टि से काव्य में अलंकारों की क्या स्थिति है। वे काव्य के अंग हैं या अंगी हैं। इसके साथ-साथ महिम भट्ट ने स्वभावोक्ति को अलंकारत्व प्रदान करने में अलंकार और अलंकार्य के एकत्व को पुष्ट कर दिया है। इससे रस की स्थिति पुनः डावांडोल हो जाती है अथवा यूं कहें कि अलंकार्यत्व के लिए अवसर नहीं रह जाता क्योंकि वे विशिष्ट स्वरूप कथन को स्वभावोक्ति अलंकार मान लेते हैं।

जयदेव की दृष्टि में अलंकार से रहित उक्ति को काव्य मानना वैसा ही है जैसे अग्नि को उष्णता रहित मानना। ये पंक्तियां ही अलंकारों के प्रति जयदेव के अनुराग को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। जयदेव की दृष्टि में अलंकारों के बिना काव्य का काव्यत्व ही दांव पर लग जाता है और उसके अस्तित्व के लिए खतरा उत्पन्न हो जाता है। मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य लक्षण–'शब्दार्थावनलंकृती पुनः क्वापि'–का खंडन करते समय जयदेव ने कहा कि जो व्यक्ति अलंकार रहित काव्य को काव्य मानते हैं वे विद्वान अग्नि को भी उष्णता रहित क्यों नहीं मान लेते हैं। इससे स्पष्ट है कि न तो अग्नि उष्णता रहित हो सकती है और न ही काव्य अलंकार रहित हो सकता है–

अंगीकरोतिः यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्माद् अनुष्णमनलंकृती॥

जयदेव की दूसरी मौलिकता इस तथ्य में निहित है कि वे अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति को काव्य का मूल स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार उपमादि अलंकारों में वक्रता की समानता रहते हुए भी प्रत्येक अलंकार में परस्पर अंतर रहता है, जिस प्रकार मुख के उपांगों में समानता रहते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति के मुख में विलक्षणता रहती है।

अलंकारवादियों के अतिरिक्त ध्वनिवादी, वक्रोक्तिवादी रीतिवादी आचार्यों ने भी 'अलंकार' पर अपने विचार व्यक्त किए। किसी ने काव्य में इनके महत्व को स्वीकार किया। किसी ने कहा कि काव्य में अलंकार हों तो ठीक है न हों तो भी ठीक है। काव्य के काव्यत्व में कोई अंतर नहीं आएगा क्योंकि काव्य की आत्मा रस है या काव्य की आत्मा ध्वनि है आदि। कुछ ने ध्वनि, रस, रीति, गुण आदि को भी काव्य के लिए अलंकार माना। किसी ने अलंकारों को रस का सहायक माना, किसी ने रस का आश्रित माना। किसी ने इन्हें रस के उन्मीलक तत्व के रूप में स्वीकार किया तो किसी ने कहा कि ये काव्य की आकर्षण शक्ति

बढ़ाते हैं। भावों के स्पष्टीकरण के लिए भी किसी ने इन्हें आवश्यक माना किंतु अंततः भाव ही रस है ऐसा मानते हुए बात अपनी जगह लौट आई। अपनी-अपनी मान्यताओं, विचारों, दृष्टिकोण के अनुरूप अलंकार सिद्धांत की प्रतिष्ठा बनी रही। यह प्रासंगिकता नई कविता तक निरंतर जारी है।

2.2.3 अलंकारों का वर्गीकरण

काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अलंकारों का सर्वप्रथम विवेचन हमें भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होता है। भरत ने अपने ग्रंथ में 'उपमा, रूपक, दीपक एवं यमक' इन चार अलंकारों का उल्लेख किया है। उपमा के पांच भेदों का उल्लेख भी भरत ने किया है तथा 'अन्य भेद भी हो सकते हैं' का संकेत भी दिया है। 'यमक' के भी अनेक भेदों का उल्लेख मिलता है।

भरत के पश्चात भामह और दंडी ने अनेक अलंकारों को चिह्नित किया तथा उनके लक्षणों एवं उदाहरणों का विस्तार से विवेचन किया। इन्होंने अलंकारों की संख्या को चालीस तक पहुंचा दिया। इतना ही नहीं दंडी ने यमक के तीन सौ पंद्रह भेदों का भी उल्लेख किया है तथा उपमा के बत्तीस भेद बताए हैं। भामह की तुलना में दंडी ने अर्थालंकारों का विस्तार से विवेचन किया था। दोनों ही आचार्य अलंकार के दो भेद–(1) शब्दालंकार और (2) अर्थालंकार – प्रस्तुत कर चुके हैं। इनके पश्चात उद्भट ने सर्वप्रथम अलंकारों का वर्ग विभाजन किया। इन्होंने 'इकतालीस' अलंकारों का विवेचन किया है। रीतिवादी वामन ने केवल बत्तीस अलंकारों का विवेचन किया है।

अलंकारवादियों में सर्वप्रथम 'रुद्रट' ने अलंकारों का साधार वर्गीकरण करने का प्रयास किया है। शब्दालंकार एवं अर्थालंकार। रुद्रट ने लगभग छियासठ अर्थालंकारों एवं पांच शब्दालंकारों का विवेचन अपने ग्रंथ में किया है। रुद्रट के पश्चात मम्मट के अलंकार विवेचन को काव्यशास्त्र में अत्यधिक महत्व दिया जाता है। इन्होंने छह शब्दालंकारों और इकसठ अर्थालंकारों का विवेचन किया है।

रुय्यक के अनुसार अलंकारों का वर्गीकरण इस प्रकार है–(1) शब्दालंकार, (2) अर्थालंकार। अर्थालंकार को पुनः पांच वर्गों में विभाजित किया गया है–(1) सादृश्य मूलक, (2) विरोध मूलक, (3) शृंखला मूलक, (4) न्याय मूलक और (5) गूढ़ार्थप्रतीति मूलक।

(1) **शब्दालंकार**–शब्दालंकार वहां होते हैं, जहां कथन का चमत्कार उसमें प्रयुक्त शब्दों की आवृत्ति पर निर्भर करता है। यदि उक्ति में से संबद्ध शब्दों को हटा कर उनके पर्यायवाची शब्द उक्ति में रख दिए जाएं तो उक्ति का वह चमत्कार भी समाप्त हो जाता है। अतः शब्द पर ही आधारित होने के कारण इन्हें शब्दालंकार कहा जाता है। इनमें प्रमुख अलंकार हैं–अनुप्रास, यमक, पुनरुक्तवदाभास, श्लेष, वक्रोक्ति आदि।

(2) **अर्थालंकार**–अर्थालंकार वहां होते हैं, जहां अलंकार का सौंदर्य शब्द पर निर्भर न कर उसके अर्थ पर निर्भर करता है। किसी शब्द के स्थान पर उसके पर्यायवाची शब्द का प्रयोग कर दिए जाने पर भी उसका अलंकारत्व यथावत बना रहता है। अतः

ऐसे अलंकारों को अर्थालंकार की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इन अलंकारों को निम्नलिखित पांच वर्गों में विभाजत किया गया है–

- **सादृश्यमूलक अर्थालंकार**–इस वर्ग में वे अलंकार आते है जिनमें सादृश्य न होने पर प्रस्तुत और अप्रस्तुत के सादृश्य का निरूपण किया जाता है।
- **विरोधमूलक अर्थालंकार**–जहां प्रस्तुत और अप्रस्तुत में विरोध का चमत्कार पूर्ण कथन होता है वहां विरोध मूलक अलंकार होते है। इसमें विरोध कवि कल्पित होता है वास्तविक विरोध नहीं होता। ऐसी उक्तियों में विरोध प्रतीत होते ही शांत हो जाता है और विरोध की शांति ही उक्ति का चमत्कार होता है। यह दृश्य ठीक इस प्रकार का होता है जैसे कि बादलों में क्षण भर को चमक कर बिजली छिप जाती है। जिस प्रकार बिजली की क्षणिक चमक दर्शकों को चमत्कृत कर देती है, उसी प्रकार अप्रस्तुत का क्षणिक विरोध काव्य रसिकों को चमत्कृत कर देता है।
- **शृंखलामूलक अर्थालंकार**–शृंखलामूलक अलंकारों की योजना वहां होती है, जहां प्रत्येक पद शृंखला की तरह परस्पर जुड़े रहते हैं। यह संबंध कभी कार्य-कारण भाव का होता है, कभी विशेषण-विशेष्य का तो कभी यह उत्कर्षापकर्ष भाव का होता है।
- **न्यायमूलक अर्थालंकार**–न्यायमूलक अलंकारों की अवस्थिति वहां पर होती है जहां पर उक्ति किसी लौकिक न्याय या वाक्य न्याय पर आधारित होती है। कहीं-कहीं तर्क के आधार पर न्याय का दिग्दर्शन कराया जाता है। काव्य लिंग, अलंकार इसी न्याय का प्रतिपादन करता है।

  कनक-कनक से सौ गुनी मादकता अधिकाय
  इक खाए बौरात हैं इक पावत बौराय॥

  इस स्वर्ण में धतूरे से अधिक मादकता होती है। यहां प्रस्तुत अर्थ को तर्कन्याय से सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उसके खाने से नशा आता है किंतु इसके पाने मात्र से नशा आ जाता है। इसी प्रकार अन्य न्यायों को भी समझना चाहिए।
- **गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक अर्थालंकार**–गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक अलंकार वहां होते हैं, जहां अप्रस्तुत विधान के कारण संपूर्ण उक्ति से किसी अन्य अर्थ की रमणीय व्यंजना होती है। जहां प्रस्तुत अर्थ का अन्य अर्थ में न्यास होता है तथा व्यंग्यार्थ सदैव प्रतीयमान रहता है, वहां गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक अलंकार ही माना जाना चाहिए।

पंडितराज जगन्नाथ ने अर्थालंकार को तीन वर्गों में विभाजित कर सादृश्य मूलक अलंकारों को पुनः दो वर्गों में विभाजित किया है–(1) जहां पर सादृश्य स्पष्ट एवं स्फुट होता है वहां पर स्फुट सादृश्य मूलक अलंकार होता है, जैसे–उपमा, रूपकादि। (2) जहां पर सादृश्य अस्फुट रहता है वहां पर अस्फुट सादृश्य मूलक अलंकार होते हैं, जैसे– दीपक, तुल्य योगिता आदि।

2.2.4 प्रमुख अलंकार

(1) **उपमा**–जहां उपमेय और उपमान में भेद रहते हुए भी उपमेय के साथ उपमान के सादृश्य का वर्णन हो वहां उपमा अलंकार होता है।

उपमा में चार तत्वों का होना आवश्यक है–(क) उपमेय, (ख) उपमान, (ग) समान धर्म, और (घ) वाचक शब्द।

(क) **उपमेय**–जिस वस्तु का उपमान के साथ सादृश्य का वर्णन होता है, उस वस्तु को उपमेय कहते हैं।

(ख) **उपमान**–जिस वस्तु के साथ उपमेय का सादृश्य बताया जाता है, वह वस्तु उपमान कहलाती है।

(ग) **समान धर्म**–दोनों वस्तुओं–उपमेय और उपमान–में समान रूप से पाए जाने वाले धर्म का कथन समान धर्म कहलाता है।

(घ) **वाचक शब्द**–उपमेय और उपमान को समान धर्म के साथ जोड़ने वाले शब्द को वाचक कहा जाता है।

उपर्युक्त तत्वों को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है जैसे–"मुख चंद्रमा के समान सुंदर है।" इस वाक्य में मुख का चंद्रमा के साथ सादृश्य बताया गया है इसलिए 'मुख' उपमेय है और चंद्रमा के साथ तुलना की जाने के कारण 'चंद्रमा' उपमान है। सुंदरता को दोनों का समान धर्म बताया गया है, जो चंद्रमा के समान मुख में भी विद्यमान है। अतः यहां पर 'सुंदर' शब्द समान धर्म है। इसी वाक्य में 'के समान' शब्द मुख और चंद्रमा को सुंदर (समान धर्म) के साथ जोड़ रहा है, इसलिए इसे वाचक शब्द कहा जाएगा। समानता बताने के कारण इसे सादृश्य वाचक भी कह सकते हैं। समान, सादृश्य सरिस सो, से, ज्यों, जैसे, जैसा, जिमि, लौ, तुल्य, सम आदि शब्द सादृश्य वाचक होते हैं।

उपमा को मुख्यतः तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है–पूर्णोपमा, लुप्तोपमा, और मालोपमा।

- **पूर्णोपमा**–पूर्णोपमा अलंकार वहां होता है जहां उपमा के चारों अवयव–उपमेय, उपमान, समान धर्म और वाचक शब्द उपस्थित रहते हैं। इस अलंकार को पूर्णोपमा अलंकार इसलिए कहा जाता है कि इसमें उपमा अलंकार के लिए निश्चित चारों अवयव शब्द के द्वारा कथित रहते हैं। उदाहरण–**'पीपर पात सरिस मन डोला।'**

  उक्त पद्य में मन की तुलना पीपल के पत्ते के साथ की गई है इसलिए इसमें 'मन' उपमेय है और 'पीपर पात' उपमान। दोनों के चांचल्य को 'डोला' शब्द के द्वारा व्यक्त किया गया है जो इनमें पाए जाने वाले समान धर्म को भी व्यक्त करता है अतः वह समान धर्म है। 'सरिस' शब्द क्योंकि समानता को व्यक्त कर रहा है इसलिए यह वाचक शब्द है।

- **लुप्तोपमा**–जहां पर उपमा के उक्त चारों अंगों में से जब किसी एक अंग का वर्णन शब्द के द्वारा कथित नहीं होता, वहां लुप्तोपमा अलंकार होता है। इस

(5) **प्रतीप**–'प्रतीप' का अर्थ होता है विपरीत। इसका अर्थ यह हुआ कि यह अलंकार उपमा से विपरीत अर्थात उलटा होता है। अत: इसको इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है कि जहां प्रसिद्ध उपमान का उपमेय की तुलना में अपकर्ष दिखाया जाता है वहां प्रतीप अलंकार होता है। उदाहरण–**उस तपस्वी से लंबे ये देवदारू दो चार खड़े।**–*कामायनी*

(6) **व्यतिरेक**–जहां गुणाधिक्य के कारण उपमान की तुलना में उपमेय का उत्कर्ष वर्णित होता है, वहां व्यतिरेक अलंकार होता है। व्यतिरेक का अर्थ होता है उत्कर्ष या आधिक्य। अत: इस अलंकार के माध्यम से उपमेय का उत्कर्ष प्रदर्शित किया जाता है। जैसे–

सिय मुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाय।
निसि मलिन वह, निसि-दिन यह विगसाय॥ *(बरवै रामायण)*

(7) **स्मरण**–जहां पहले से देखी हुई या अनुभव की हुई वस्तु का उसी के सदृश किसी अन्य वस्तु को देखकर या अनुभव कर, स्मरण हो आने का वर्णन हो, वहां स्मरण अलंकार होता है। जैसे– **भएउ कोलाहलु नगर मंझारी**
आवा कपि लंका जेहि जारी॥

(8) **असम**–जहां उपमेय के समान किसी उपमान के निषेध का वर्णन हो, वहां असम अलंकार होता है। 'असम' का अर्थ होता है जिसके समान कोई अन्य न हो। जैसे–

फलराज रसाल समान कहीं।
फल और मनोहर एक नहीं॥

(9) **रूपक**–जहां उपमेय का कथन कर उसका उपमान के साथ अभेद आरोपित किया गया हो, वहां पर रूपक अलंकार होता है। रूपक अलंकार में उपमेय पर उपमान का आरोप कर दिया जाता है अर्थात उपमेय को ही उपमान बता दिया जाता है या समझ लिया जाता है। जैसे–मुख चांद है। इस वाक्य में मुख को चांद बता दिया गया है। रूपक अलंकार के तीन भेद होते हैं–(1) निरंग रूपक, (2) सांग रूपक, (3) परंपरित रूपक।

- **निरंग रूपक**–जहां केवल उपमेय में उपमान का आरोप किया जाता है, वहां निरंग रूपक अलंकार होता है। प्रत्येक वस्तु मूल होती है और उसके अंग भी होते हैं। मूल वस्तु को 'अंगी' कहा जाता है। 'निरंग' शब्द का अर्थ ही होता है 'अंग रहित'। कुछ विद्वान इसे निरवयव रूपक भी कहते हैं। जैसे–
  विधु वदनी सब भांति संवारी। सोह न वसन बिना वर नारी।
- **सांग रूपक**–जहां पर उपमेय के सभी अंगों अथवा अवयवों पर उपमान के सभी अंगों या अवयवों का आरोप वर्णित हो, वहां पर सांग रूपक अलंकार होता है। इस अलंकार-रूप में अंगों सहित अंगी उपमेय पर अंगों सहित अंगी उपमान का आरोप किया जाता है। इसमें अनेक आरोप वर्णित होते हैं, जैसे–
  बीती विभावरी जाग री,
  अंबर पनघट में डुबो रही।
  तारा-घट ऊषा-नागरी।

इन पंक्तियों में अंबर में पनघट का, तारे में घट का और ऊषा में सुंदरी का आरोप किया गया है। यहां पर प्रात:काल के आकाश, तारा और उषा का कुएं के पनघट, घट और नागरी पर आरोप कर रात्रि के बीतने और प्रात:काल के आगमन का वर्णन किया गया है। अत: समस्त अंगों पर आरोप कथित होने से यहां पर सांग रूपक अलंकार है। सांग रूपक के पुन: दो भेद किए जाते हैं–(1) समस्त वस्तु विषय और (2) एकदेशविवर्ति।

(1) समस्त वस्तु विषय सांग रूपक अलंकार वहां होता है, जहां पर उपमेय और उपमान के समस्त अंगों का शब्दों के द्वारा कथन हो और (2) एकदेशविवर्ति सांग रूपक अलंकार वहां होता है, जहां पर कुछ अंगों का तो शब्द द्वारा कथन कर दिया जाता है और कुछ का आक्षेप से या प्रसंग से ग्रहण किया जाता है।

- **परंपरित रूपक**–जहां पर एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है, वहां पर परंपरित रूपक अलंकार होता है। परंपरित का अर्थ होता है परंपरा या क्रम। इस प्रसंग में कम से कम दो आरोप होते हैं जिनमें एक आरोप कारण होता है और दूसरा कार्य। कहने का तात्पर्य यह है कि एक आरोप कर देने के पश्चात दूसरे आरोप का निरूपण करना आवश्यक हो जाता है। जैसे–

  राम कथा सुंदर कर तारी। संसय बिहग उड़ावन हारी। *(मानस)*

  उपर्युक्त चौपाई में रामकथा पर करताल (तालियों) का आरोप किया गया है और संशय पर पक्षी का आरोप कियां गया है। यहां पर 'संशय-विहग' आरोप कार्य है और 'रामकथा-कर तारी आरोप', कारण है। अत: कार्य-कारण की परंपरा का चित्रण होने के कारण यहां पर परंपरित रूपक अलंकार है।

  परंपरित रूपक अलंकार दो प्रकार का होता है–(1) श्लिष्ट परंपरित रूपक और (2) अश्लिष्ट परंपरित रूपक अलंकार।

(10) **उल्लेख**–जहां एक वस्तु को अनेक प्रकार से वर्णित किया जाए, वहां उल्लेख अलंकार होता है। इसके दो भेद होते हैं–1. प्रथम उल्लेख, 2. द्वितीय उल्लेख।

प्रथम उल्लेख–जहां एक ही वस्तु अनेक व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखी जाए अथवा वर्णन की जाए वहां प्रथम उल्लेख होता है; जैसे

गज रक्षक वृद्धान ने, युवतिन ने श्रीकाँत।
असुर-तियन हरि लखे, रिसियाने नरकांत॥

जिस समय श्रीकृष्ण मथुरा में प्रविष्ट हुए तो वृद्ध नारियों ने उन्हें गज का उद्धार करने वाला, युवतियों ने लक्ष्मीकांत, असुरपत्नियों ने साक्षात विष्णु समझा जिन्होंने सक्रोध नरकासुर का वध किया। अत: यहां श्रीकृष्ण का विभिन्न दृष्टियों से वर्णन होने के कारण प्रथम उल्लेख है।

द्वितीय उल्लेख–जहां पर एक वस्तु एक व्यक्ति द्वारा विभिन्न दृष्टि से देखी जाए अथवा वर्णित हो, वहां द्वितीय उल्लेख होता है; जैसे–

तू रूप है किरन में, सौंदर्य है सुमन में।
तू प्रण है पवन में, विस्तार है गगन में॥

यहां कवि ने ईश्वर का विभिन्न दृष्टियों से अनेक रूपों में उल्लेख किया है, अत: यहां द्वितीय उल्लेख है।

(11) **अपह्नुति**–जहां उपमेय को नकार कर उपमान का आरोप किया जाए वहां अपह्नुति अलंकार होता है। इसके छह भेद हैं–

शुद्धापह्नुति–इसमें वास्तविक उपमेय का निषेध करके उपमान का आरोपण किया जाता है; जैसे–**वे दो ओठ न थे, राधे, था एक फटा उर तेरा।**

यहां ओठों का निषेध करके उर का आरोप किया गया है।

हेत्वपह्नुति–जहां उपमेय के निषेध के कारण बताते हुए उपमान की स्थापना हो–

अभी उम्र कुल तेइस की थी, मनुज नहीं अवतारी थी।
हमको जीवित करने आई, बन स्वतंत्रता नारी थी।

यहां लक्ष्मीबाई में मनुजत्व का निषेध करके उसके अवतारी होने की स्थापना की गई है। दूसरी पंक्ति में कारण देने से यह हेत्वपह्नुति है।

पर्यस्तापह्नुति–इसमें किसी वस्तु के धर्म का निषेध दूसरी वस्तु में उसके आरोप के लिए किया जाता है–

तेरे ही भुजनि पर भूतल को भार,
कहिबे को सेसनाग दिगनग हिमाचल है।

यहां सेसनाग, दिगनाग का निषेध कर उसका आरोप भुजबल पर किया गया है।

भ्रांतापह्नुति–इसमें सत्य बात प्रकट करके किसी के भ्रम को दूर किया जाता है–

आनन हैं, अरविंद न फूले, अलिंगन भूलैं कहा मंडरात हौ।
बोलती बाल, न बाजती बीन कहा सिगरे मृग घेरति जात हौ॥

यहां भ्रांति कवि-कल्पित है।

छेकापह्नुति–इसमें सत्य को छिपाकर असत्य के द्वारा भ्रांति दूर करने का प्रयास होता है–

आँखें अति सीतल भईं, दीन्हों ताप निहारि।
क्यों सखि पीतम को लखै, ना सखि, ससिहिं निहारि॥

यहां एक सखी अन्य सखी के भाव से अनजान है और प्रियतम दर्शन की बात पूछती है किंतु वह एकदम बात बदलकर चंद्रमा की बात करने को कहती है।

कैतवापह्नुति–जिसमें उपमेय का स्पष्ट निषेध न करके मिस, ब्याज, छल आदि शब्दों से निषेध किया जाए–

यों लछिराम छटा नख नौल तरंगनि गंग प्रभा फल पेनी।
मैथिली के चरनांबुज ब्याज लसै मिथिला जग मंजु त्रिवेनी॥

यहां 'चरणोदक' का निषेध 'ब्याज' से किया गया है।

(12) **संदेह**–जहां किसी वस्तु के संबंध में अनेक वस्तुओं का संदेह हो और सादृश्य के कारण अनिश्चय बना रहे, वहां संदेह अलंकार होता है। प्राचीन काव्य में यह संदेह किंवा, धौं, किधौं आदि तथा खड़ी बोली के काव्य में कि, क्या या तथा अथवा आदि शब्दों द्वारा किया जाता है। उदाहरण के लिए–

मद भरे ये नलिन नयन मलीन हैं,
अल्प जल में या विकल लघु मीन है।

यहां 'नयन' के विषय में 'मीन' का संदेह होता है। 'या' संदेहवाचक शब्द का प्रयोग हुआ है।

(13) **भ्रम या भ्रांतिमान**–भ्रम का अर्थ होता है मिथ्या ज्ञान। जहां पर किसी सदृश वस्तु में अर्थात उपमेय में अन्य वस्तु अर्थात उपमान के सुंदर कल्पित मिथ्या ज्ञान का वर्णन होता है, वहां पर भ्रम, भ्रांति या भ्रांतिमान अलंकार होता है। उदाहरण–

पाय महावर देन को नाइन बैठी आय।
फिरि-फिरि जानि महावरी, एडी मीड़त जाय॥ *–बिहारी*

यहां नाइन ने भ्रमवश एड़ी की लाली के कारण एड़ी को ही महावर समझ लिया।

(14) **उत्प्रेक्षा**–जहां प्रस्तुत वस्तु में अप्रस्तुत वस्तु की संभावना अर्थात उत्कृष्ट कल्पना का वर्णन हो, वहां पर उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। उत्प्रेक्षा का व्युत्पत्ति परक अर्थ होता है किसी वस्तु को उत्कट या प्रकृष्ट रूप से देखना। इसमें जनु, मानों, मनु, इव आदि वाचक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इसके पहले दो भेद किए जाते हैं– (1) वाच्या और (2) प्रतीयमान। वाच्या में वाचक शब्दों का प्रयोग आवश्यक होता है जबकि प्रतीयमान में व्यंग्य की प्रधानता रहने के कारण वाचक शब्दों का अभाव पाया जाता है। वाच्योत्प्रेक्षा के पुनः तीन भेद किए जाते हैं–(1) वस्तूत्प्रेक्षा, (2) हेतूत्प्रेक्षा और (3) फलोत्प्रेक्षा। उदाहरण–

पंथ जात सोहहिं मति धीरा। ज्ञान भक्ति जनु धरे सरीरा। *(मानस)*

(15) **अतिशयोक्ति**–'अतिशयोक्ति' का अर्थ है उक्ति की अतिशयता अर्थात किसी कथन को सामान्य रूप में प्रस्तुत न कर उसे बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया जाए वहां पर अतिशयोक्ति अलंकार होता है। इसके प्रमुख छह भेद किए हैं– (1) रूपकातिशयोक्ति, (2) भेदकातिशयोक्ति, (3) संबंधातिशयोक्ति, (4) अक्रमातिशयोक्ति, (5) चपलातिशयोक्ति और (6) अत्यंतातिशयोक्ति।

- **रूपकातिशयोक्ति**–'देखो दो-दो मेघ बरसते, मैं प्यासी की प्यासी'–यहां दो मेघों के उपमान में दो आंखें उपमेय हुई हैं। उपमेय का उपमान में अध्यवसान हो जाने के कारण यहां रूपकातिशयोक्ति है।
- **भेदकातिशयोक्ति**–जहां भेद न रहते हुए भी उपमेय में चमत्कार लाने के लिए अन्य, और अनियार जैसे शब्दों का प्रयोग कर भेद स्थापित किया जाए वहां यह अलंकार होता है–

सुनहुं सखा कह कृपानिधाना।
जेहि जय होई सो स्यंदन आना॥

- **संबंधातिशयोक्ति**–जहां पर संबंधों में असंबंध और असंबंधों में संबंध का वर्णन हो वहां पर यह अलंकार होता है।

  'जो संपदा नीच गृह सोहा।
  सो बिलोकि सुरनायक मोहा।' –*मानस*

- **अक्रमातिशयोक्ति**–जहां क्रम नहीं होता और क्रम का त्याग कर कवि कार्य-कारण का अत्यधिक वर्णन करता है वहां यह होता है–

  'संधानेउ प्रभु बिसिख कराला।
  उठी उदधि उर अंतर ज्वाला॥ –*मानस*

- **चलातिशयोक्ति**–जहां कारण को देखते ही कार्य की संपन्नता का वर्णन किया जाए वहां यह अलंकार होता है–

  'तब सिव तीसर नयन उघारा।
  चितवत काम भयउ जरि छारा। –*मानस*

- **अत्यंतातिशयोक्ति**–इसमें कारण के पहले ही कार्य संपन्न हो जाता है। जैसे– **हनुमान की पूंछ में लगन न पाई आग, लंका सिगरी जल गई गए निसाचर भाग।**

(16) **दीपक**–जहां उपमेय और उपमान दोनों का एक धर्म के साथ संबंध दिखा कर वर्णन किया जाता है वहां पर दीपक अलंकार होता है। जैसे–

सेवक सठ नृप कृपन कुनारी।
कपटी मित्र सूल-सम चारी॥ *(मानस)*

(17) **प्रतिवस्तूपमा**–जहां एक वाक्यार्थ का दूसरे वाक्यार्थ के साथ बिना वाचक शब्द के सादृश्य का वर्णन हो तथा एक ही समान धर्म का पृथक-पृथक शब्दों के द्वारा कथन हो वहां प्रतिवस्तूपमा अलंकार होता है। प्रतिवस्तूपमा का अर्थ होता है–'प्रतिवस्तु' अर्थात प्रत्येक वाक्य के अर्थ में उपमा का समावेश किया गया हो। इस अलंकार में दो वाक्य होते हैं–(1) उपमेय वाक्य और (2) उपमान वाक्य। दोनों वाक्यों का एक ही समान धर्म होता है। (3) समान धर्म का कथन पृथक-पृथक शब्दों द्वारा किया जाता है और (4) इसमें सादृश्य, साधर्म्य के द्वारा ही नहीं अपितु वैधर्म्य के द्वारा भी निरूपित होता है। उदाहरण–

सठ सुधरहिं सत्संगति पाई।
पारस-परस कुधात सुहाई॥ *(मानस)*

(18) **दृष्टांत**–जहां दो वाक्यार्थों में आए उपमेय और उपमान के समान धर्मों में बिंब-प्रतिबिंब भाव संबंध हो, वहां दृष्टांत अलंकार होता है। उपमेय वाक्य में एक सामान्य बात कही जाती है किंतु उपमान वाक्य में कोई उससे मिलता-जुलता दृष्टांत प्रस्तुत किया जाता है जो उपमेय वाक्य के कथन की पुष्टि करता है। दृष्टांत यानी–उदाहरण–

करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते, सिल पर परत निसान॥ *(वृंद)*

(19) **निदर्शना**–दो वाक्यों में परस्पर संभव और असंभव संबंध होने पर भी उपमा के द्वारा उनमें संबंध की कल्पना करना निदर्शना अलंकार होता है। निदर्शना का अर्थ भी दृष्टांत होता है किंतु इसमें निश्चित रूप से सादृश्य का अभिव्यंजन किया जाता है। उसमें संभव की अभिव्यक्ति की जाती है। उदाहरण–

सो धनु राज कुंअर कर देहीं।
बाल मराल कि मंदर लेहीं॥ *–मानस*

फल की समानता के कारण असंभव संबंध स्थापित किया गया है।

(20) **श्लेष**–श्लेष अलंकार दो प्रकार का होता है–शब्द श्लेष और अर्थ श्लेष।

- **शब्द श्लेष**–शब्द श्लेष अलंकार वहां होता है, जहां अलंकार का सौंदर्य शब्द विशेष पर आधारित हाता है। यदि उस शब्द के स्थान पर कोई दूसरा उसका पर्यायवाची शब्द रख दिया जाए तो श्लेष अलंकार वहां पर नहीं रहेगा। शब्द श्लेष के दो भेद होते हैं–(1) अभंग श्लेष और (2) सभंग श्लेष। अभंग श्लेष में तो प्रयुक्त शब्द ही एक से अधिक अर्थों का द्योतन कराने की क्षमता रखता है। जैसे–

  तुम्हारा पी मुख वास तरंग आज बौरे भौंरे सहकार।

  उपर्युक्त पंक्ति में बौरे शब्द में श्लेष है इसके दो अर्थ हैं–(1) फूल आना या बौर आना (2) मस्त होना। सहकार अर्थात आम वृक्ष के प्रसंग में पुष्पित होना और भौंरे के प्रसंग में मस्त होना अर्थ लिए जाएंगे। यहां पर एक ही शब्द दोनों अर्थ दे रहा है। अतः यहां पर अभंग श्लेष अलंकार है। यदि हम 'बौरे' शब्द के स्थान पर 'मंजरी' या 'मद' जैसे पर्यायवाची शब्दों का 'बौरे' शब्द के स्थान पर प्रयोग कर दें तो श्लेष अलंकार नहीं रहेगा। अतः यह शब्द श्लेष है।

  जहां तक सभंग श्लेष का प्रश्न है, वहां पर शब्द का खंड करने पर दूसरा अर्थ निकलता है तथा शब्द के तोड़ने या भंग करने से दूसरा अर्थ निकलता है, इसलिए इसे सभंग श्लेष कहते हैं। जैसे–

  चिर जीवौ जोरी जुरै क्यों न स्नेह गंभीर।
  को घटि वह वृषभानुजा ए हलधर के वीर॥ *(बिहारी)*

  उपर्युक्त दोहे में 'वृषभानुजा' और 'हलधर' शब्दों में श्लेष अलंकार है। वृषभानुजा का अर्थ है 'राधा जी' और 'हलधर के वीर' का अर्थ है बलदेव जी के भाई अर्थात कृष्ण जी। दोनों का प्रेम गंभीर क्यों न हो, क्योंकि दोनों में कोई भी कम नहीं है। इन दोनों शब्दों में वृषभानु + जा (वृषभानु की पुत्री) का अर्थ है 'राधा' किंतु 'वृषभ + अनुजा' (संधि विच्छेद करने पर) का अर्थ है बैल की छोटी बहिन अर्थात गाय। 'हल + धर' का अर्थ हो जाएगा 'बैल' और इस प्रकार 'हलधर के वीर' का अर्थ हुआ 'बैल का भाई अर्थात सांड'। इन पंक्तियों में प्रथम पंक्ति में ही संधि-विच्छेद से दूसरा अर्थ आने से वह सभंग श्लेष का उदाहरण हुआ।

- **अर्थश्लेष**–अर्थश्लेष अलंकार वहां होता है जहां पर अर्थ में अलंकारत्व रहता है। यदि संबद्ध शब्द के स्थान पर उसका कोई भी पर्यायवाची शब्द रख दें तब भी श्लेष का सौंदर्य बना रहे वहां पर अर्थश्लेष अलंकार रहता है। जैसे–'साधु चरित सुभ सरिस कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू।' इस चौपाई में 'नीरस, विशद और गुणमय' तीन एकार्थक शब्दों का प्रयोग किया गया है जो साधु और कपास दोनों के प्रसंग में अपना अर्थ देते हैं जैसे कपास रुखी, उजले धागे वाली होती है और साधुओं का चरित्र (विषय रस से) सूखा, निर्मल गुण वाला होता है। इस चौपाई में 'नीरस और बिसद' शब्दों में 'गुणमय' का प्रयोग किया गया है पर्यायवाची (रसहीन, विस्तृत) रख देने पर श्लेष की सत्ता बनी रहने से अर्थ प्राबल्य सिद्ध होता है। अत: यहां अर्थश्लेष अलंकार है।

(21) **समासोक्ति अलंकार**–जहां कवि के प्रस्तुत अर्थ के अतिरिक्त श्लिष्ट पदों या शब्दों के संगठन से कोई अप्रस्तुत भाव भी अनायास ही प्रकट होता है, वहां समासोक्ति अलंकार होता है, जैसे–

जीवन के दानि हौं, सुजान हौ, सरस अति।
जगत के जीवन मैं, आनन्द उमाहे हौ॥

यहां जीवन शब्द अनेकार्थ सूचक तथा सरस शब्द भी दो अर्थों का सूचक है। इससे इसमें अन्यार्थ प्रतीत होता है।

(22) **अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार**–जहां अप्रस्तुत (उपमान) के द्वारा उपमेय का बोध कराया जाए, वहां अन्योक्ति अलंकार होता है। जैसे–

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सौं बंध्यो आगे कौन हवाल॥

यहां भौंरे और कली के माध्यम से प्रस्तुत राजा जयसिंह और उनकी नवोढ़ा पत्नी का बोध कराया गया है। अत: अन्योक्ति अलंकार है।

विरोधमूलक अलंकार

(23) **विरोधाभास**–जहां पर विरोध न होने पर भी विरोध की प्रतीति होती हो वहां विरोधाभास अलंकार होता है। उदाहरण–

या अनुरागी चित्त की गति समुझे नहीं कोय।
ज्यों-ज्यों बूड़े स्याम रंग, त्यों-त्यों ऊजवल होय॥ *(बिहारी)*

(24) **विभावना अलंकार**–जहां कारण के अभाव में ही कार्य की संपन्नता का वर्णन किया गया हो, वहां विभावना अलंकार होता है। उदाहरण–

'बिनु पद चलै सुनै बिनु काना।
कर बिनु करम करै बिधि नाना॥ *(मानस)*

यह अलंकार दो प्रकार का होता है–(1) शाब्दी विभावना, (2) आर्थी विभावना।

- **शाब्दी विभावना**–इसमें कारण के अभाव का शब्द के द्वारा कथन किया जाता है। जैसे–

  'निंदक नियरे राखिए, आंगन कुटी छवाय।
  बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करै सुभाय॥

  यहां पानी और साबुन वस्त्रादि की मैल साफ करने के कारण है इनके अभाव में चित्त के निर्मल होने का वर्णन किया गया है कि निंदक को पास में रखने से वह दोषों को उजागर करेगा जिससे व्यक्ति अपने दोष दूर कर लेगा।

- **आर्थी विभावना**–यहां कारण का अभाव अर्थ द्वारा कथित होता है। जैसे–**'बिनु पद चलै सुनै बिनु काना'**–अर्थ के द्वारा ईश्वर की महिमा का पता चलता है कि उसकी कृपा से मनुष्य बिना पैर के चल सकता है तथा बिना कान के सुन सकता है।

(25) **विशेषोक्ति अलंकार**–जैसा कहा जा चुका है, 'असंगति' में कारण और कार्य दोनों होते हैं, परंतु एक ही जगह नहीं, दूर-दूर, इसके विपरीत जब कारण उपस्थित होने पर भी कार्य नहीं होता तब विशेषोक्ति अलंकार होता है। जैसे–

मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलै विरंचि सम।
फूलहि फरहि न बेत, जदपि सुधा बरसहिं जलद॥

यहां विरंचि समान गुरु की प्राप्ति होने पर भी मूरख सचेत नहीं हो रहा। अर्थात प्रबल और पूर्ण कारण के रहने पर भी कार्य नहीं हो रहा।

(26) **असंगति अलंकार**–जहां कारण किसी अन्य स्थल पर हो और कार्य की निष्पत्ति किसी अन्य स्थल पर वर्णित हो, वहां पर असंगति अलंकार होता है। उदाहरण–

'कोयल काली मतवाली है, आम्र मंजरी झूम रहीं।

यहां मस्ती कोयल में है और आम्र मंजरी का झूमना दिखाया गया है। कार्य और कारण अलग-अलग जगहों पर स्थित है।

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर संग प्रीति।
परति गांठि दुरजन हृदै, दई नई यह रीति॥ *–बिहारी*

(27) **विषम अलंकार**–जहां विरोधाभास अलंकार में ऐसे पदार्थों का एक-दूसरे में संबंध कहा जाता है जिनमें वास्तव में परस्पर भेद होता है, परंतु जब ऐसे दो पदार्थों का परस्पर संसर्ग कराया जाता है जिनका संबंध अनुचित होता है तब विषम अलंकार होता है। जैसे–

कहँ धनु कुलिसहूँ चाहि कठोरा, कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा!

–तुलसी

'शिव' के कठोर 'धनुष' और 'राम' के कोमल 'तन' का संबंध होना अनुचित लगता था परंतु यहां ऐसा कराया जा रहा है, अतः यह विषम 'असमान' संयोग है।

(28) **कारणमाला**–जहां शृंखला रूप में वर्णित पदार्थों का कार्य-कारण भाव संबंध हो वहां कारणमाला अलंकार होता है। उदाहरण–

बिद्या ते उपजै बिनय बिनय जगत-बस होय।
जगत भये बस धन मिलै, धन ते धरम उदोत॥ *(हीरा द्वारा उद्धृत)*

इस अलंकार की योजना दो प्रकार से होती है–(1) पूर्व-पूर्व में कारण तथा पर-पर में कार्य (2) पूर्व पूर्व में कार्य – पर पर में कारण।

प्रथम योजना का उदाहरण ऊपर दिया गया है। दूसरी योजना का उदाहरण है–

अन्न मूल धन, धनन को मूल जग्य अभिराम।
ताको धन, धन को धरम, धरम मूल हरिनाम॥

(29) **एकावली अलंकार**–करणमाला में कार्य कारण का क्रम होता है किंतु जब वस्तुओं के ग्रहण और त्याग की एक श्रेणी विशेषण भाव से बन जाए अथवा निषिद्ध भाव से बन जाएं, तब एकावली अलंकार होता है। जैसे–

मैं इस झरने के निर्झर में प्रियवर सुनता हूं वह गान।
कौन गान? जिसकी तानों से परिपूरित हैं मेरे प्राण।

कौन प्राण? जिनको निशि-वासर करता एक तुम्हारा ध्यान।
कौन ध्यान? जीवन सरसिज को जो सदैव रखता अम्लान।

इसमें गान, प्राण, ध्यान के ग्रहण-त्याग की एक श्रेणी है।

निषिद्ध भाव का उदाहरण–

सोभित सो न सभा जहं वृद्ध न, वृद्ध न ते जे पढ़े कछु नाहीं,
ते न पढ़े जिन साधु न साधत, दीन दया न दिखै जिन माहीं;
सो न दया जु न धर्म धरै धर, धर्म न सौ जहं दान वृथा हीं,
दान न सौं जहं सांच न 'केसव', सांच न सो जु बसै छल छाहीं।

(30) **सार अलंकार**–जब पहले कही हुई वस्तुओं का उत्तरोत्तर बढ़ने (उत्कर्ष) या कम होने (अपकर्ष) का वर्णन किया जाता है, ब 'सार' अलंकार होता है। उदाहरण के लिए–

मधुर से मधु सुधा है रुचिकर, कविता रुचिकर अधिक सुधा से।

यहां मधु सुधा और कविता में क्रमशः उत्तरोत्तर अधिक मिठास बताकर उत्कर्ष को क्रमशः वृद्धि बताई गई है। अथवा–

तृण से लघु है तूल तूल से लघु है भिक्षा।

इसमें तृण तूल (रुई) और भिक्षा में क्रमशः घटती प्रतिष्ठा दिखाकर अपकर्ष की क्रमिक वृद्धि प्रदर्शित की गई है।

न्यायमूलक अलंकार

(31) **काव्यलिंग**–जहां पर किसी कथन का समर्थन करने के लिए वाक्यार्थ या पदार्थ में उसका कारण भी प्रस्तुत किया जाए वहां पर काव्यलिंग अलंकार होता है। काव्यलिंग शब्द का अर्थ भी यही होता है कि काव्य वर्ण्य विषय और लिंग हेतु अर्थात वर्ण्य विषय का लिंग या हेतु प्रस्तुत किया जाए। जैसे–

स्याम गौर किमि कहऊं बखानी।
गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥ *(मानस)*

यहां राम और लक्ष्मण के सौंदर्य को वर्णित करने की असमर्थता का कारण वाणी का नेत्रहीन होना तथा नेत्रों का वाणीहीन होना है।

(32) **अर्थांतरन्यास**–जहां सामान्य कथन से विशेष या विशेष कथन से सामान्य का समर्थन किया गया हो वहां अर्थांतरन्यास अलंकार होता है।

उदाहरण–

निर्वासित थे राम, राज्य था कानन में भी।
सच ही है–श्रीमान भोगते सुख वन में भी॥ *(मैथिलीशरण गुप्त)*

न्यायमूलक अलंकारों के अंतर्गत परिगणित अन्य अलंकार हैं–

अनुमान अलंकार, परिकर अलंकार, सहोक्ति अलंकार, विनोक्ति अलंकार, यथासंख्या या क्रम अलंकार, पर्याय अलंकार, अत्युक्ति अलंकार, गूढ़ोक्ति अलंकार, उन्मीलित अलंकार, परिवृत्ति अलंकार, परिसंख्या अलंकार, काव्यार्थापत्ति अलंकार, मीलित अलंकार, तद्गुण अलंकार।

गूढ़ार्थ प्रतीति मूलक अलंकार

(33) **पर्यायोक्ति**–जहां विवक्षित अर्थ को सीधे-सीधे ढंग से न कह कर भिन्न प्रकार से चमत्कारपूर्ण ढंग से व्यक्त किया जाता है वहां पर्यायोक्ति अलंकार होता है। जैसे–

मातु पितहु जनि सोचबस, करहि महीप किसोर।
गर्भन के अर्भक दलन, परसु मोर अति घोर। *(मानस)*

(34) **व्याजोक्ति**–व्याजोक्ति का अर्थ होता है बहाने का कथन अर्थात जहां पर गुप्त रहस्य के प्रकट होने पर उसे किसी बहाने से अन्य कथन द्वारा छुपाया जाए, वहां पर व्याजोक्ति अलंकार होता है। इसे अन्योक्ति भी कह सकते हैं। इस अलंकार में वक्ता को लगता है कि उसका गुप्त रहस्य प्रकट हो गया, इसका ज्ञान व्यंजना द्वारा उसके उस रहस्य को छिपाने के कथन से होता है। जैसे–

बहुरि गौरी कर ध्यान करेहू। भूप किशोर देखि किन लेहू॥

राम के प्रति सीता का तल्लीनता के रहस्य को गौरी का 'ध्यान' कहकर छिपाया गया है।

(35) **व्याजस्तुति**–जहां पर स्तुति कथन से निंदा की और निंदा के कथन से स्तुति की व्यंजना की जाती है, वहां पर व्याजस्तुति अलंकार होता है। व्याजस्तुति का अर्थ है किसी बहाने स्तुति या निंदा करना। जैसे–

कहत कौन रण में तुम्हें, धीर वीर सरदार।
लखि रिपु बिनु हथियार जो, डारि देत हथियार॥ *(वीर-सतसई)*

'हे सरदार (नायक) तुम्हें युद्ध में पराक्रमी वीर कौन कह सकता है क्योंकि तुम जैसे ही शत्रु को शस्त्र विहीन देखते हो उसके सामने हथियार डाल देते हो।' यहां

सेनानायक की निंदा के बहाने उसकी स्तुति या प्रशंसा की गई है कि वह शस्त्रहीन शत्रु पर वार नहीं करता।

अन्य गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक अलंकार हैं–अपह्नुति अलंकार, अनुज्ञा अलंकार, तिरस्कार अलंकार।

शब्दालंकार

जहां पर अलंकार का चमत्कार अर्थ पर निर्भर न होकर शब्द पर निर्भर करता है वहां पर शब्दालंकार होता है।

(36) **अनुप्रास**–अनुप्रास का अर्थ होता है बारंबार निकट रखना अर्थात वर्णों का बार-बार प्रयोग। अलंकार रूप में अनुप्रास की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि वर्णों की रसानुकूल बार-बार आवृत्ति करना ही अनुप्रास अलंकार होता है। विश्वनाथ ने इसके पांच प्रमुख भेदों का उल्लेख किया है– (1) छेकानुप्रास, (2) वृत्यनुप्रास, (3) श्रुत्यनुप्रास, (4) अंत्यानुप्रास और (5) लाटानुप्रास।

- **छेकानुप्रास**–जहां पर अनेक व्यंजनों की एक बार स्पष्टत: एवं क्रमश: आवृत्ति की गई हो, वहां छेकानुप्रास अलंकार होता है। इसे छेकानुप्रास इसलिए कहते हैं कि संभवत: अनुप्रास की यह योजना छेक अर्थात विदग्ध जनों को अधिक प्रिय थी। अत: कवियों ने इस अलंकार के पर्याप्त प्रयोग किए हैं। जैसे–

  बंदौ गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुवास सरस अनुरागा। *(मानस)*

  यहां प, सु, स, आदि अनेक व्यंजनों की एक-एक बार आवृत्ति की गई है।

- **वृत्यनुप्रास**–जहां पर वर्णों की अथवा वर्ण की अनेक बार आवृत्ति की गई हो वहां पर वृत्यानुप्रास अलंकार होता है। जैसे–

  'कंकन किंकनी नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥

  (मानस)

  न, नी, नि की आवृत्ति है।

- **श्रुत्यनुप्रास**–जहां पर एक ही उच्चारण स्थान से उच्चरित होने वाले व्यंजनों में समानता पाई जाती है, वहां पर श्रुत्यनुप्रास अलंकार होता है। जैसे–

  जाहि जन पर ममता अति छोहू। जेहि करुण करि कीन्ह न कोहू॥

  (मानस)

  यहां 'ह' की चार बार और 'क' की तीन बार आवृत्ति की गई है। दोनों वर्णों का एक कंठ ही उच्चारण स्थान है अत: श्रुत्यनुप्रास होगा।

- **अंत्यानुप्रास**–जहां पर पद या पद के अंत में सभी पदों में समान स्वर और व्यंजन की आवृत्ति की जाती है, वहां अंत्यानुप्रास अलंकार होता है। हिंदी भाषा में ऐसे पद्यों को तुकांत कविता या तुकांत पद कहते हैं। यह आवृत्ति क्योंकि पद के अंत में होती है, इसलिए इसे अंत्यानुप्रास कहते हैं। जैसे–

  धीरज धरम मित्र अरु नारी। आपत्ति काल परखिए चारी। *(मानस)*

  दोनों अर्धाली में 'री' की आवृत्ति है।

- **लाटानुप्रास**–जहां शब्द और अर्थ की समान रूप से आवृत्ति की जाती है किंतु अन्वय करने पर उनके अभिप्राय में भिन्नता आ जाती हो वहां लाटानुप्रास अलंकार होता है। जैसे–

  पूत कपूत तो का धन संचै। पूत सपूत तो का धन संचै॥

  'धन संचय' का रूप एवं अर्थ दोनों बार समान है किंतु तात्पर्य बदल गया है।

(37) **यमक अलंकार**–जहां सार्थक किंतु भिन्नार्थक या निरर्थक वर्ण-समुदाय की एक से अधिक बार आवृत्ति की जाती है वहां पर यमक अलंकार होता है। जैसे–

कनक-कनक तें सौ गुनी मादकता अधिकाय।
या खाये बौरात जग, वा पाये बौराय॥ *(बिहारी)*

अर्थात एक ही शब्द की बार-बार आवृत्ति होती है किंतु हर बार अर्थ अलग होता है। जैसे–कनक का अर्थ – सोना और धतूरा दोनों हैं।

(38) **पुनरुक्तवदाभास**–जहां पर भिन्न आकार वाले किंतु समान अर्थ वाले शब्दों का इस प्रकार प्रयोग किया जाता है कि पुनरुक्ति न होने पर भी पुनरुक्ति का आभास होने लगता है, वहां पर पुनरुक्तवदाभास अलंकार होता है। जैसे–

पयोधर बने उरोज उदार। (मानस)

यहां 'पयोधर' और 'उरोज' एकार्थक शब्द हैं जिनसे पुनरुक्ति का आभास होता है परंतु पयोधर में मातृत्वकाल के स्तनों का व उससे पूर्व दुग्धहीन स्तनों का वर्णन होने से यह 'पुनरुक्तवत् आभास' है।

(39) **वक्रोक्ति**–यहां पर वक्रोक्ति को मात्र एक अलंकार के रूप में ही विश्लेषित किया जा रहा है। जहां पर श्लेष या काकु के द्वारा वक्ता द्वारा अभिप्रेत अर्थ ग्रहण न कर श्रोता उसे किसी अन्य अर्थ में ग्रहण करता है और वह चमत्कारपूर्ण होता है तो वहां पर वक्रोक्ति अलंकार होता है। जैसे–

एक कबूतर देख हाथ में पूछा कहां अपर है।
उसने कहा अपर कैसा? उड़ है गया सपर है॥ *(भक्त)*

यहां 'अपर' शब्द का तात्पर्य 'दूसरा कबूतर' था किंतु श्रोता ने उसका तात्पर्य बिना पर वाला समझा और कहा कि वह 'सपर' यानी पंख वाला था, उड़ गया।

उभयालंकार या मिश्रित अलंकार

इस वर्ग के अंतर्गत ऐसे कथनों को लिया जाता है, जिनमें एकाधिक अलंकारों का मिश्रण या सम्मिलन रहता है। कुछ आचार्य इन्हें उभयालंकार कहते हैं। उभयालंकार से तात्पर्य होता है जिस कथन में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का प्रयोग किया गया हो।

(40) **संसृष्टि अलंकार**–जब दो या दो से अधिक शब्दालङ्कार या अर्थलङ्कार किसी काव्य में मिश्रित होते हैं तब इसे संसृष्टि कहा जाता है। संसृष्टि तीन प्रकार की होती है–

1. शब्दालङ्कार–इसमें शब्दालङ्कारों का मेल होता है।

2. अर्थालङ्कार–इसमें कई अर्थालङ्कारों का मेल होता है।
3. शब्दार्थालङ्कार–इसमें शब्द एवं अर्थ दोनों प्रकार के अलंकार मिले होते हैं।

शब्दालङ्कार संसृष्टि का उदाहरण–

दीरघ सांस न लेहि दुख, सुख साईंहिं न भूल।
दई दई क्यों करत है, दई दई, सु कबूल॥

इसमें दीरघ-दुख, सुख साईंहिं आदि में छेकानुप्रास और दई में यमक (दई – दैव, दई – दिया) होने के कारण दो शब्दालङ्कार एकत्र हैं। ये दोनों अलग-अलग स्पष्ट विदित होते हैं। अतः यहां संसृष्टि शब्दालङ्कार है।

अर्थालंङ्कार संसृष्टि का उदाहरण–

कीर कै कागर ज्यों नृप चोर विभूषण उप्पम अंगनि पाई।
औध तजी मग बास के रूख ज्यों, पंथ के साथी ज्यों लोग लुगाई।
संग सुबंधु पुनीत प्रिया, मनो धर्म क्रिया धरि देह सुहाई।
राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाईं।

इसमें उपमा और उत्प्रेक्षा दोनों अर्थालङ्कार की संसृष्टि है।

शब्दार्थालङ्कार की संसृष्टि है–

सम सुबरन सुषमाकर सुखद न थोर।
सीय अंग सखि कोमल कनक कठोर।

इसमें अनुप्रास शब्दालङ्कार है और व्यतिरेक अर्थालङ्कार भी है। इसलिए यहां शब्दार्थालङ्कार संसृष्टि है। वे दोनों ही यहां अलग-अलग स्पष्ट रूप से देखे जा रहे हैं।

(41) **संकर**–जब एक ही छंद में अनेक अलंकारों का सम्मेलन नीर-क्षीर न्याय से अर्थात परस्पर सापेक्ष रूप से हो, वहां संकर अलंकार होता है। "जिस प्रकार एक ही पात्र में रखे हुए तिलों और चावलों में परस्पर अभेद संबंध हो जाता है, उसी प्रकार संकर अलंकार में प्रयुक्त अनेक अलंकार परस्पर सापेक्ष लगते हैं। जैसे–

बीती विभावरी जाग री।
अंबर पनघट में डुबो रही
तारा घट ऊषा नागरी।
खगकुल कुल-कुल सा बोल रहा
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई
मधु मुकुल नयल रस-गागरी।
अधरों में राग अमन्द पिये–
अलकों में मलयज बंद किये,
तू अब तक सोई है आली
आंखों में भरे विहाग री।

कविवर प्रसाद की इन पंक्तियों में ऊषा का वर्णन है तथा गुप्त नायिका का उद्‌घोषन अप्रस्तुत है। अतएव समासोक्ति है। साथ ही कवि ने अंबर को पनघट तारों का घट, ऊषा को नागरी, मुकुल को गागर कहकर उपमेय और उपमान में अभेद आरोपित किया है, अत: सांग रूपक है। बीती विभावरी, मधु-मुकुल में अनुप्रास है। खगकुल कुल-कुल में यमक है। अधरों में अमंद राग पीना, अब तक सोते रहने में हेतु है, अत: काव्यलिंग अलंकार है। क्योंकि इसमें हेतु प्रदर्शित किया जाता है, किंतु अंगी रूपक अलंकार है। अन्य अलंकार अंग-रूप में है। अत: इन पंक्तियों में अनुप्रास, यमक समासोक्ति, काव्यलिंग मुख्य रूपक अलंकार का उपकार करते हैं, जिनसे इनका संकर है।

(42) **मानवीकरण**–जहां पर अमूर्त भावों का मूर्तीकरण कर के और जड़ पदार्थों का चेतनवत वर्णन किया जाता है वहां मानवीकरण अलंकार होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जहां अमूर्त अथवा जड़ पदार्थों का मानवीय चेष्टाओं की तरह चेष्टाएं करते हुए वर्णन किया जाता है वहां पर मानवीकरण अलंकार होता है, जैसे–

उधो! मन नाहीं दस-बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधे ईस॥ *(सूरदास)*

यहां अमूर्त मन को स्याम के साथ चला गया कहना उसका मानवीकरण करना है। क्योंकि गमन करना मानवीय कार्य है।

(43) **ध्वन्यार्थ व्यंजना अलंकार**–काव्य रचना में कई बार इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग होता है जिनकी ध्वनि ही उन शब्दों के अर्थ को भी ध्वनित या व्यंजित करती है। इस अलंकार के अंतर्गत भाषा की ध्वन्यात्मकता का विशेष महत्व रहता है। उदाहरण के लिए–

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।

इस पंक्ति में 'कंकन', 'किंकिनि' आदि शब्द ध्वन्यात्मक हैं और अर्थ का द्योतन भी करते हैं, अर्थात इन शब्दों में 'किंकिनि' (रघनी) और 'कंकन' (कंगन) के बजने की-सी ध्वनि निकलती है।

(44) **विशेषण विपर्यय अलंकार**–जब किसी विशेषण को उसके विशेष्य से न जोड़कर किसी दूसरे शब्द का विशेषण बना दिया जाए, तो इसे विशेषण-विपर्यय अलंकार कहा जाता है।

जयशंकर प्रसाद की निम्नलिखित पंक्ति विशेषण-विपर्यय का उदाहरण है–

कुसुमति कुंजों में थे पुलकित, प्रेमालिंगन हुए विलीन।

यहां 'प्रेमालिंगन' का विशेषण 'पुलकित' है। वास्तव में 'पुलकित' विशेषण व्यक्ति का ही हो सकता है, 'प्रेमालिंगन' का नहीं।

निष्कर्ष–अलंकार सिद्धांत का काव्यशास्त्र में काव्य लक्षण के रूप में विशेष महत्व है। यह सत्य है कि यह काव्यात्मा नहीं हो सकता, साध्य नहीं हो सकता। यह साधन मात्र है किंतु रस का सहयोगी हो सकता है। काव्य के लिए किसी आचार्य ने काव्य पुरुष कहा,

किसी ने कविता कामिनी...। काव्य पुरुष हो या कविता कामिनी दोनों ही दृष्टियों से उनके लिए आत्मा रस है और अलंकार उनके शोभाभायक धर्म हैं। काव्य की शोभा बढ़ाने के लिए अलंकार का उपयोग किया जाता है यह उपयोगिता तो सिद्ध है ही। इसके अतिरिक्त अलंकार काव्य का ऐसा लक्षण है जो इसे वक्रोक्ति और ध्वनि से भी जोड़ता है। रस तो काव्य की आत्मा है ही, औचित्य आत्मा की भी आत्मा है। लेकिन जहां तक वक्रोक्ति का प्रश्न है, वह भी अलंकार है। यह शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों में सम्मिलित है। वक्रोक्ति यानी व्यंग्यार्थ व्यंजना जोकि उत्तम ध्वनि है। इससे निर्मित काव्य उत्तम काव्य की श्रेणी में आता है। अतः अलंकार सिद्धांत की उपयोगिता वक्रोक्ति एवं ध्वनि सिद्धांत को जानने के साथ-साथ पूरे काव्यशास्त्र की महिमा को जानने के लिए भी है। अलंकार के भेद असंख्य हैं क्योंकि यह अंतर्बाह्य की शोभा को बढ़ाने वाला लक्षण है। शब्द की, अर्थ की, भाव की शोभा बढ़ाते हुए यह भेदोपभेद होते जाना स्वाभाविक है। काव्यशास्त्रीय जगत में अलंकार सिद्धांत वस्तुतः स्वयं भी अलंकार ही है।

2.3 रीति संप्रदाय

रीङ् धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगने पर रीति शब्द निष्पन्न हुआ। 'रीति' अर्थात शैली, ढंग, तरीका, विधि, प्रवृत्ति, वृत्ति, मार्ग, पद्धति, स्टाइल आदि। रीति सदैव प्रासंगिक है। प्रत्येक मनुष्य का, जड़-चेतन का जीवन जीने का आचार-विचार का अपना तरीका है, रीति है। इसी तरह हर रचनाकार का अभिव्यक्ति का अपना तरीका है, रीति है। मौन हो या वक्तृता, गति हो या जड़ता, लेखन हो या पठन-पाठन सबकी अपनी रीति है। यह रीति सरल भी हो सकती है कठिन भी। कोमल या कठोर, स्निग्ध या रुखी, सीधी या वक्र, ग्राम्य या परिष्कृत, प्राचीन या नवीन, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, सुगम या गूढ़। चिंतकों ने इस पर गहन विचार-विमर्श किए। कहां पर रीति केवल बाह्याचार है, कहां पर इसमें रस एवं भाव भी सम्मिलित हैं? इस चिंतन परंपरा से ही रीति-सिद्धांत का स्वरूप निर्मित हुआ।

विभिन्न आचार्यों की दृष्टि में रीति के भेद एवं उनके स्वरूप

रीति-सिद्धांत के प्रतिपादक आचार्य वामन (आठवीं शती ई.) हैं। वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर 'रीति' को विशेष महत्व दिया। उनसे पहले दण्डी ने भी 'रीति' की चर्चा की थी और उसके दो भेद 'गौड़ी' और 'वैदर्भी' माने थे, किंतु 'रीति' का लक्षण नहीं बताया था। वामन ने तीसरी रीति 'पांचाली' की प्रतिष्ठा की और उसका लक्षण निर्धारित करते हुए कहा-'विशिष्ट-पदरचना' ही रीति है। विशिष्टता के आधार गुण हैं। 'विशेषो गुणात्मा'। इसलिए रीतियों का भेद गुणों के भेद पर निर्भर है। वैदर्भी रीति सभी गुणों से युक्त होती है। 'समग्रगुणा वैदर्भी'। 'ओज' और 'कांति' गुणों से युक्त गौड़ी रीति होती है-'ओजः कान्तिश्च विद्यते यस्यां सा ओजः कान्तिमती, गौड़ीया नाम रीतिः', पांचाली रीति 'माधुर्य' और 'सौकुमार्य' गुणों से युक्त होती है। 'माधुर्य सौकुमार्योपपन्ना पांचाली'। इन तीनों रीतियों में सभी गुणों (दस गुणों) से युक्त होने के कारण वैदर्भी रीति विशेष ग्राह्य है। समास पद न हों तो वैदर्भी, शुद्ध वैदर्भी कही जाती है। 'सापि समासाभावे शुद्ध वैदर्भी'।

वामन के बाद आचार्य रुद्रट ने 'लाटी' नामक चौथी रीति की प्रतिष्ठा की। उन्होंने 'समास' को दृष्टि में रखकर रीतियों का भेद निरूपण किया। उनके अनुसार पांचाली लघुसमासयुक्त रीति है। 'गौड़ी' दीर्घसमासबहुला होती है। मध्यम समास वाली 'लाटीया' होती है और 'वैदर्भी' समाससहित होती है।

कुन्तक ने रीति को व्याख्या मार्ग के रूप में की है। उनके अनुसार रचना के तीन मार्ग हैं- 1. सुकुमार, 2. विचित्र और 3. मध्यम। उनके द्वारा निरूपित 'सुकुमार' मार्ग के अन्तर्गत 'वैदर्भी', 'विचित्र' के अन्तर्गत 'गौड़ी', और मध्यम के अन्तर्गत 'पांचाली' रीति का समावेश हो सकता है।

आनन्दवर्धन ने रीति के लिए 'संघटना' पद का प्रयोग किया और उसे 'रस' का साध न माना। इस प्रकार 'रीति-सिद्धांत' संबंधी चिंतन की परंपरा चलती रही। 'रीति-सिद्धांत' की सबसे बड़ी देन 'गुणों' की प्रतिष्ठा है। शैली और अभिव्यक्ति-सौन्दर्य की महत्ता का प्रतिपादन इसकी अन्य उपलब्धियां हैं।

2.3.1 रीति का स्वरूप

वामन ने 'काव्यालंकार सूत्र' नामक ग्रंथ लिखकर और उस पर स्वयं वृत्ति भी लिखी। इसलिए यह ग्रंथ 'काव्यालंकार सूत्र वृत्ति' के नाम से भी जाना जाता है। वामन ने काव्यात्मा के प्रश्न पर चिंतन करते हुए लिखा–'रीतिरात्मा काव्यस्य।' अर्थात रीति काव्य की आत्मा है। उन्होंने 'रीति' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा–'विशिष्टा पद-रचना रीतिः', अर्थात विशेष प्रकार की पद रचना का नाम रीति है। इसके पश्चात 'विशिष्ट' शब्द को उन्होंने स्पष्ट करते हुए कहा–'गुण युक्त'। अर्थात 'विशेषो-गुणात्मा' गुण युक्त होना ही विशेष है, विशिष्ट है। समस्त स्पष्टीकरण पर दृष्टि डालें तो वामन का मत सामने आता है कि–'गुणों से युक्त पद-रचना काव्य की आत्मा है।' वामन काव्य के दो रूपों को मान्यता देते हैं–(1) रीति, (2) अर्थगुण संपदा। अर्थ गुण संपदा यानी विषय वस्तु रीति के आधार पर रीति के कारण प्रकाशित हो उठती है। आस्वाद्य बनती है। तात्पर्य यह कि 'आस्वाद्य' और आस्वादन कराने वाली दो भिन्न वस्तुएं हैं–रीति एवं वस्तु। इनमें वामन 'रीति' को महत्वपूर्ण मानते हैं क्योंकि अर्थगुण संपदा को आस्वाद्य बनाने का महत्वपूर्ण कार्य यही करती है। रीतियों में भी वे वैदर्भी रीति को ही अधिक ग्राह्य मानते हैं। वामन रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं जबकि यह बाह्य सौंदर्य से संबंधित है। रीति साध्य नहीं, साधन है। इसलिए आचार्यगण वामन को देहवादी आचार्य मानते हैं, आत्मवादी नहीं।

2.3.2 रीति और शैली

आधुनिक काल में काव्यशास्त्र के अंतर्गत 'शैली' शब्द का प्रयोग बहुतायत से हो रहा है। यह प्रयोग अंग्रेजी के 'स्टाइल' शब्द के पर्याय के रूप में हो रहा है। इधर 'रीति' शब्द के अनेक अर्थ निकाले गए हैं–'रीति एक शब्द योजना है।' 'रीति' वर्णन योजना है। 'रीति' अभिव्यंजना का नाम है। रीति काव्य की आत्मा है। आचार्य शुक्ल ने हिंदी साहित्य के एक काल को 'रीतिकाल' कहा जो तत्कालीन पूरे कालखंड की साहित्य धारा और उसकी चिंतन दृष्टि को प्रकट करता हुआ काव्यशास्त्र का द्योतक है। 'रीति' व्यापक सिद्धांत है। वर्तमान में परंपरावादी काव्यशास्त्री शैली के स्थान पर रीति शब्द के प्रयोग पर बल दे रहे हैं क्योंकि उन्हें 'शैली' शब्द में अंग्रेजियत की गंध आती है। पाश्चात्य 'रीति' कवि स्वभाव या कवि व्यक्तित्व के उद्घाटन की विशेषता धारण करती है। इसकी इसी विशेषता के कारण यह

'रीति' कम और 'शैली' अधिक लगती है। 'शैली' स्वभाव के परिचायक 'शील' शब्द से निष्पन्न हुआ शब्द है। वस्तुतः 'स्टाइल' का पर्यायवाची शब्द शैली है, रीति नहीं। इसे व्यक्तित्व या स्वभाव के उद्घाटन की विशेषता के दृष्टिकोण से देखें तो भारतीय साहित्य में 'शैली' शब्द 'रीति' से अधिक पुराना है। डॉ. विश्वनाथ मिश्र 'शैली' शब्द के स्थान पर रीति शब्द का प्रयोग करने पर बल देते हैं। अपने रीति विज्ञान नामक ग्रंथ में वे इसके लिए दो तर्क प्रस्तुत करते हैं–(1) संस्कृत भाषा में शैली शब्द का प्रयोग साहित्येतर विभाओं–जैसे चित्रकला, स्थापत्य कला आदि के लिए किया जाता है। (2) पाश्चात्य विद्वान भी 'स्टाइल' शब्द की व्याख्या जिस रूप में करते हैं उस रूप का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता 'शैली' में नहीं है। जबकि डॉ. नगेंद्र रीति एवं शैली को अभिन्न मानते हुए कहते हैं कि शैली में 'व्यक्ति तत्व' की प्रधानाता उसका प्रमुख लक्षण है। इधर भारतीय काव्यशास्त्री दंडी, कुंतक, शारदातनय आदि भी 'रीति' में व्यक्ति तत्व की प्रधानता स्वीकार करते हैं। दूसरा पक्ष देखें तो पाश्चात्य काव्यशास्त्री 'स्टाइल' के दूसरे तत्व के रूप में 'वस्तु तत्व' को महत्व देते हैं। यहां भारतीय काव्यशास्त्री तो रीति को मानते ही 'वस्तु तत्व' हैं।

इससे यह स्पष्ट होता है कि वह पदार्थ जो वस्तु तत्व एवं व्यक्ति तत्व को अपने में संजोए हुए है वह 'स्टाइल' है और हिंदी में 'स्टाइल' के लिए शैली शब्द का प्रयोग किया जाता है। अर्थात 'शैली' वस्तु तत्व और व्यक्ति तत्वों का समन्वित रूप है। इस लक्षण वाले पदार्थ को संस्कृत भाषा में 'रीति' कहा जाता है। अर्थात रीति और शैली अभिन्न हैं। स्वभाव की विस्तृत व्याख्या करने का गुण ही प्राचीन शैली को आधुनिक शैली का स्वरूप प्रदान करता है। स्वभाव प्रवृत्ति स्वरूप होता है और प्रवृत्तियां वैयक्तिक भी होती हैं। तात्पर्य यह है कि शैली वैयक्तिक भी होती है और सामूहिक भी। इनका आपस में कोई विरोध नहीं है। एक ही व्यक्ति में वैयक्तिक और सामूहिक दोनों शैलियां उपस्थिति हो सकती हैं। जैसे छायावादी या रोमैंटिक युग के कवियों की एक सामूहिक शैली है, छायावादी शैली। लेकिन इसी युग के भीतर यही उनकी अपनी एक वैयक्तिक शैली भी है। कभी-कभी किसी कवि की वैयक्तिक शैली इतनी आकर्षक और मर्मस्पर्शी होती है कि वह अन्य कवियों के लिए अनुकरणीय बनकर सामूहिक बन जाती है।

डॉ. सुशील कुमार डे 'शैली' और 'रीति' में अंतर मानते हैं तो यह इसलिए स्वीकार किया जा सकता है कि क्योंकि पाश्चात्य साहित्य शास्त्र में 'स्टाइल' शब्द में व्यक्ति तत्व को जितना अधिक महत्व दिया गया है उतना महत्व भारतीय काव्यशास्त्र में 'रीति' शब्द के व्यक्ति तत्व को नहीं दिया जाता।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारतीय साहित्य में शैली और रीति दोनों भिन्न पदार्थ हैं। क्योंकि भारतीय काव्यशास्त्र का 'रीति' शब्द जो अपने प्रयोग में बहुत पीछे छूट गया है वह आधुनिक 'शैली' का वाचक नहीं है। प्रवृत्ति के कारण 'रीति' शब्द का अर्थ संकुचित हो गया और वह वस्तु तत्व की प्रमुखता में रूढ़ हो गया है। आज के भारतीय काव्यशास्त्र में यह अंशतः ही व्यवहार्य है। जबकि 'शैली' शब्द 'अर्थ-विस्तार पाकर व्यक्ति तत्व की प्रमुखता में रूढ़ होकर भी विश्व साहित्य के 'स्टाइल' का वाचक बन गया है। व्युत्पत्ति से प्राप्त अर्थ की दृष्टि से, अर्थ की व्यापकता की दृष्टि से तथा प्रयोग की दृष्टि से भी देखें तो 'शैली' और 'स्टाइल' की समान प्रसिद्धि एवं मान्यता है, रीति इनकी तुलना में स्थान नहीं बना पाती। हिंदी काव्यशास्त्र में रीति और शैली के प्रयोग पर ध्यान दें तो शैली अधिक सशक्त

और व्यापक शब्द है। इसके स्थान पर 'रीति' को नहीं बिठाया जा सकता। यह स्पष्ट है कि आधुनिक हिंदी काव्य और काव्यशास्त्र प्राचीन हिंदी काव्य और काव्यशास्त्र की तुलना में अंग्रेजी काव्य और काव्यशास्त्र से अधिक प्रभावित है।

2.3.3 काव्य-गुण

भारतीय काव्यशास्त्र में भरतमुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक प्रायः सभी आचार्यों ने गुणों की विवेचना की। गुणों के रूप, संख्या और स्थिति पर तर्क-वितर्क प्रस्तुत किए। भरतमुनि के अनुसार–दोषों का वैपरीत्य ही गुण है। वे यह भी कहते हैं–

'गुणविपर्ययाद् एषाम् माधुर्यौदार्यलक्षणाः।' अर्थात दोषों का विपर्यय ही गुण का लक्षण है। भरतमुनि ने दस दोष एवं दस गुण गिनाए हैं। दस गुण इस प्रकार हैं–(1) श्लेष, (2) प्रसाद, (3) समता, (4) समाधि, (5) माधुर्य, (6) ओज, (7) पद सौकुमार्य, (8) अर्थ-व्यक्ति, (9) उदारता और (10) कांति। अभिनवगुप्त ने 'विपर्यय' का अर्थ विघात या अभाव माना है। अर्थात काव्य में दोषों का अभाव ही गुण है। यह परिभाषा मान्य नहीं हो सकती क्योंकि इसमें दोषों एवं गुणों की संख्या समान होनी चाहिए जिससे यह पता चले कि कौन से दोष के अभाव में कौन सा गुण उत्पन्न हुआ है या प्रकाशित हुआ है। दूसरे इस परिभाषा से गुणों के स्वतंत्र अस्तित्व पर आघात पहुंचता है। भामह के अनुसार–माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन ही गुण हैं। दंडी भरत की ही तरह गुणों की संख्या दस मानते हैं। डॉ. नगेंद्र कहते हैं कि दंडी काव्य के समस्त अवयवों को अलंकार मानते हैं तो इस तरह 'गुण' भी अलंकार के अंतर्गत आ जाते हैं। दंडी के अनुसार अलंकार काव्य के शोभाकारी धर्म हैं तो सीधे-सीधे गुण भी काव्य के शोभाकारी धर्म हो गए। यहीं अप्रत्यक्ष रूप से दंडी ने गुणों की परिभाषा एवं स्थिति स्पष्ट कर दी है। गुणों के नाम एवं संख्या दंडी ने भरत की तरह ही दी है।

वामन पहले आचार्य थे जिन्होंने गुणों को परिभाषित करते हुए कहा–'काव्य की शोभा के आधारक तत्वों को गुण कहते हैं जो रीति के माध्यम से काव्य की शोभा बढ़ाते हैं। गुण काव्य के नित्य धर्म होते हैं। अतः काव्य में इनकी स्थिति अनिवार्य है। भरत और दंडी की तरह वामन भी गुणों की संख्या दस ही निर्धारित करते हैं। वामन के अनुसार गुण दो प्रकार के होते हैं–(1) शब्द गुण, (2) अर्थ गुण। वामन मानते हैं कि रस गुणों पर आश्रित होता है। दंडी भी रसों को गुणों पर आश्रित बताते हैं। अंतर यह है कि दंडी कहते हैं, रस माधुर्य गुण के आश्रित होता है तथा वामन कहते हैं कि रस 'कांति' गुण के आश्रित होता है।

दंडी–मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रस-स्थितिः।

वामन–'दीप्त रसत्वं कांतिः।'

'काव्य शोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः। विशेषो गुणात्मा।'

वामन गुणों को शब्द गुण भी मानते हैं तथा अर्थ गुण भी। इनकी व्याख्या इस तरह करते हैं–

(1) **ओज**– शब्द गुण–रचना की गाढ़ता ही ओज गुण है।
अर्थ गुण–अर्थ की प्रौढ़ता ही ओज गुण है।

(2) **प्रसाद**– शब्द गुण–रचना की शिथिलता ही प्रसाद गुण है।
अर्थ गुण–अर्थ की स्पष्ट व्यंजना ही प्रसाद गुण है।

(3) **श्लेष**– शब्द गुण–रचना की मंजुलता ही श्लेष गुण है।
अर्थ गुण–क्रम, कुटिलता, प्रसिद्ध वर्णन शैली और उपपत्ति के योग वाली घटना ही श्लेष है।

(4) **समता**– शब्द गुण– रचना का अभेद समता गुण है।
अर्थ गुण– अर्थ की समता ही समता गुण है।

(5) **समाधि**– शब्द गुण–रचना के आरोहावरोह क्रम को समाधि गुण कहते हैं।
अर्थ गुण–अर्थ दृष्टि ही समाधि गुण है।

(6) **माधुर्य**– शब्द गुण–समास रहित रचना ही माधुर्य गुण है।
अर्थ गुण–विचित्र उक्ति का कथन माधुर्य गुण है।

(7) **सौकुमार्य**–शब्द गुण–रचना की कोमलता ही सुकुमार गुण है।
अर्थ गुण–कोमल भाव या अर्थ की व्यंजना को सौकुमार्य गुण कहते हैं।

(8) **उदारता**– शब्द गुण–रचना की विकटता ही उदारता का गुण है।
अर्थ गुण–अर्थ में ग्राम्यत्व का अभाव ही उदारता गुण कहलाता है।

(9) **अर्थव्यक्ति**–शब्द गुण–अर्थ की स्पष्ट प्रतीति का हेतु ही अर्थ व्यक्ति गुण होता है।
अर्थ गुण–वस्तु के स्वभाव का स्पष्ट वर्णन ही अर्थ व्यक्ति गुण होता है।

(10) **कांति**– शब्द गुण–रचना की उज्ज्वलता का नाम ही कांति गुण है।
अर्थ गुण–शृंगारादि रसों की प्रकाशमानता ही कांति गुण है।

आनंदवर्धन ने गुणों की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए उन्हें रसाश्रित मान कर रस के उपकारक धर्म बताया। ध्वनिकार ने गुणों को आत्मा के शौर्यादि गुणों के समान बताया जो आत्मा के उत्कर्षक धर्म होते हैं। विश्वनाथ एवं पंडितराज भी इस मत से सहमत हुए। अंतत: गुणों की स्थिति इस तरह स्पष्ट हुई कि–"गुण उस तत्व का नाम है जो रस के उत्कर्ष हेतु एवं उपकारक धर्म हैं और काव्य में उनकी स्थिति अचल एवं अनिवार्य है, ठीक इस प्रकार जिस प्रकार मानव में आत्मा के उत्कर्ष हेतु शौर्यादि गुणों की अचल एवं अनिवार्य स्थिति है।" गुणों की संख्या विभिन्न आचार्यों के मतानुसार बढ़ती-घटती रही। अंतत: सभी आचार्यों ने जिन गुणों को एक स्वर से स्वीकारा, उनकी संख्या तीन हैं- (1) प्रसाद गुण, (2) ओज गुण, (3) माधुर्य गुण।

(1) **प्रसाद गुण**– जिस प्रकार अग्नि सूखे ईंधन में तत्काल व्याप्त हो जाती है उसी प्रकार चित्त में तुरंत व्याप्त हो जाने वाला गुण प्रसाद गुण कहलाता है। प्रसाद गुण सभी प्रकार की रचनाओं और रसों में व्यवहृत किया जा सकता है। प्रसाद गुण युक्त रचना में ऐसे सरल एवं सुबोध शब्दों का प्रयोग किया जाता है कि जिन्हें सुनते ही श्रोता को अर्थ की प्रतीति हो जाती है। साहित्य दर्पणकार ने प्रसाद गुण की यही परिभाषा की है–

चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केंधनमिवानलः।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।
शब्दास्तद्व्यंजकाः अर्थ-बोधका श्रुतिमात्रतः॥

उदाहरण– **छीनता हो स्वत्व कोई और त्याग, तप से तू काम ले, यह पाप है।**
पुण्य है विछिन्न कर देना उसे, तेरी तरफ बढ़ रहा जो हाथ है।

(दिनकर कुरुक्षेत्र)

उपर्युक्त पद को पढ़ते ही तुरंत अर्थ-बोध हो जाता है कि अधिकारों के हनन को सहन करना ही पाप है और अधिकारों की रक्षा करना ही पुण्य है।

(2) **ओज गुण–** जिस काव्य-रचना के सुनने अथवा पढ़ने से चित्त का विस्तार हो और मन में तेज उत्पन्न हो वहां उस रचना में 'ओज' गुण माना जाता है। ओज गुण से युक्त रचना के आस्वादन से चित्त-दीप्ति एवं आवेग उत्पन्न हो जाते हैं। इस गुण का प्रयोग वीर, वीभत्स, रौद्र रसों में किया जाता है। इसमें संयुक्त वर्णों, रेफ, परुषवर्णों और लंबे-लंबे समासों का प्रयोग किया जाता है। इसमें मूर्धन्य ध्वनियों का प्रयोग प्रमुखता से किया जाता है। 'काव्य प्रकाश' में इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गई है–

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीर-रस स्थितिः।
वीभत्स-रौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च॥

उदाहरण– **बरसे आग जलद जल जाए भस्मसात् भूधर हो जाएं।**
पाप-पुण्य सदसद्भावों की धूल उड़े उठ दांए-बांए॥
नभ का वक्षस्थल फट जाए तारे टूक-टूक हो जाएं।
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाए॥

यह उदाहरण प्रसाद गुण युक्त ओज गुण है। इसमें यद्यपि उपरोक्त सभी लक्षण तो उपलब्ध नहीं होते किंतु शब्द एवं अर्थ का गुंफन इस प्रकार किया गया है कि पढ़कर या सुनकर चित्त का विस्तार अवश्य होता है, मन में आवेग एवं तेज उत्पन्न होता है।

(3) **माधुर्य गुण–** जिस काव्य रचना के पढ़ने या सुनने से पाठक या श्रोता का चित्त द्रवित हो उठता हो वहां माधुर्य गुण माना जाना चाहिए। शृंगार या करुण रस के प्रसंगों में सहृदय सामाजिक का मन द्रवीभूत हो उठता है। चित्त के द्रवण का कारण उस समय माधुर्यगुण ही होता है और रस की निष्पत्ति में परम सहायक सिद्ध होता है। मम्मट ने काव्य-प्रकाश में माधुर्य गुण की परिभाषा इस प्रकार दी है-

आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुति-कारणम्।
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्॥

अर्थात आह्लादकत्व ही माधुर्य गुण है। इससे चित्त अतिशय द्रवित हो जाता है। इसका शृंगार, करुण और शांत रस में प्रयोग किया जाता है।

उदाहरण– **पगली हां! सम्हाल ले कैसे छूट पड़ा तेरा अंचल।**

देख, बिखरती है, मणिराजी अरी, उठा बेसुध चंचल॥
फटा हुआ था नील वसन क्या, ओ यौवन की मतवाली।
देख, अकिंचन जगत लूटता, छवि तेरी भोली-भाली॥

यह रात्रि के सौंदर्य का चित्रण है। इसमें मधुर एवं कोमल वर्णों के आधिक्य के कारण माधुर्य गुण की अभिव्यंजना हुई है।

2.3.4 रीति सिद्धांत की प्रमुख स्थापनाएं

'रीति' शब्द का प्रयोग आचार्य वामन ने किया। वे रीति सिद्धांत के प्रवर्तक माने जाते हैं। किंतु उनसे बहुत पहले भामह और दंडी ने 'मार्ग' के नाम से इस सिद्धांत का सूत्रपात कर दिया था और गहन दृष्टि डालें तो पाते हैं कि अन्य सिद्धांतों की तरह इस सिद्धांत के बीज भी भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में पाए जाते हैं। भरत ने चार नाट्य प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है–(1) आवंती (पश्चिमी भारत), (2) दक्षिणात्या (दक्षिण भारत), (3) पांचाली (मध्य भारत), (4) औड्रमागधी (उड़ीसा तथा मगध प्रदेश)। ये प्रवृत्तियां भारत की चारों दिशाओं की सूचक हैं। भरत की प्रवृत्तियों का क्षेत्र रीति से अधिक व्यापक है क्योंकि इनका आधार भारतीयों की वेशभूषा, आचार-विचार और भाषा है। 'रीति' का संबंध केवल पद-रचना से होता है।

आगे चलकर बाणभट्ट ने 'हर्ष चरित' में कहा–

श्लेष प्रायमुदीच्येषु, प्रतीच्येष्वर्थ मात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु, गौडेष्वक्षरडम्बर:॥

अर्थात उत्तर के लेखक प्राय: श्लेष का प्रयोग करते हैं, पश्चिम के काव्यकर्मी वाणी के आडंबर से दूर रह कर केवल अर्थ-गौरव पर अधिक ध्यान देते हैं, दक्षिण के सर्जक कलाकार उत्प्रेक्षा के प्रेमी हैं तो गौड़ प्रदेश (पूर्व) के कवि अक्षराडंबर में अधिक विश्वास रखते हैं। बाणभट्ट ने श्लेष, उत्प्रेक्षा और अर्थमात्रा आदि का उल्लेख कर काव्य शैली के साथ गुण और अलंकार को भी जोड़ने का प्रयास किया है। इनके साथ रस का भी समावेश करके वे कहते हैं कि इन सबका काव्य में एक साथ प्रयोग किसी रीति से नहीं कवि प्रतिभा से ही हो सकता है। इस तरह वे चारों शैलियों को प्रतिभा के सामने निरस्त करते हैं।

बाणभट्ट के बाद 'रीति' पर व्यवस्थित और प्रणाली बद्ध चिंतन भामह ने किया। वे 'मार्ग' शब्द का प्रयोग करते हैं। भामह के अनुसार वैदर्भी रीति ही गौडीय रीति है। इन्हें अलग-अलग मानने की आवश्यकता नहीं है। वे कहते हैं–पुष्ट अर्थ और वक्रोक्ति से हीन वैदर्भी भी गीत की भांति श्रुति मधुर होती है। अलंकार युक्त, अग्राम्य, अर्थयुक्त, न्याय सम्मत अनाकुल गौडीय काव्य भी श्रेष्ठ है। अन्यथा वैदर्भ काव्य भी श्रेष्ठ नहीं है। दंडी ने भी 'रीति' के लिए 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया। 'वाणी' के अनेक मार्ग हैं कहकर वे 'मार्ग' शब्द को कवि के व्यक्तित्व के साथ जोड़ने का सफल प्रयास करते हैं। दंडी ने दो 'मार्ग' ही चुने हैं–(1) वैदर्भ, (2) गौडीय। कहते हैं–"श्लेष, समता, प्रसाद, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कांति और समाधि ये दस गुण वैदर्भ के प्राण हैं।"

गौडीय में इनका विपर्यय लक्षित होता है। दंडी वैदर्भ मार्ग प्रधान काव्य को ही सत्काव्य की कोटि में रखते हैं।

आनंदवर्धन ने रीति के लिए 'संघटना' शब्द का प्रयोग किया है। ये रीति या संघटना को रसाभिव्यक्ति का माध्यम मानते हुए उसे समास योजना पर आधारित मानते हैं। उन्होंने संघटना के तीन प्रकार बताए–(1) असमासा संघटना (2) मध्य समासा (3) दीर्घ समासा। आनंदवर्धन कहते हैं–संघटना गुणाश्रित होती है। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मानते हुए–**'रीतिरात्मा काव्यस्य'** कहा। **'विशिष्टा पदरचना रीति'** और 'विशेषो गुणात्मा' कहा। अर्थात विशिष्ट पद रचना रीति है किंतु पदों में विशिष्टता गुणों के कारण आती है। अत: रीति गुणों पर आधारित है। रीति संप्रदाय को गुण संप्रदाय के नाम से भी जाना जाता है। वामन कहते हैं–'समग्रगुणा वैदर्भी'। यानी वैदर्भी में सभी दस गुण विद्यमान रहते हैं। गौड़ीय में ओज तथा कांति गुण रहते हैं। पांचाली में माधुर्य और सौकुमार्य गुण विद्यमान रहते हैं। राजशेखर ने वामन की परिभाषा की पुष्टि की। राजशेखर के अनुसार–'वचनविन्यास क्रमो रीति:।' अर्थात वचन विन्यास का क्रम ही रीति है। कुंतक ने 'रीति' को कवि स्वभाव के साथ जोड़ दिया। वे इसे 'कवि-प्रस्थान हेतु' की संज्ञा देते हैं। भोजराज ने रीति को 'कवि-गमन मार्ग' कहा। जबकि मम्मट ने रीति के स्थान पर 'वृत्ति' शब्द का प्रयोग किया और अंत में रीति और वृत्ति को पर्यायवाची कहा। उनके वक्तव्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि–(1) वृत्ति और रीति समान हैं। (2) वृत्तियों का आधार वर्ण संगुंफना है। अर्थात समास नहीं है। (3) वर्णगुंफ का गुण के साथ निश्चित संबंध है। (4) रीति का विषय रस है और यह एक निश्चित व्यापार है।

आचार्य विश्वनाथ भी मम्मट के मत की पुष्टि करते हैं। अंतर यह है कि वे वर्ण के साथ शब्द गुंफ या समास को भी रीति का आधार मानते हैं। विश्वनाथ के अनुसार– रीति अंग संस्थान की तरह पद-संघटना है और रस का उपकारक तत्व है।

निष्कर्ष–'रीति' काव्य का प्रमुख तत्व है। कुछ आचार्यों ने इसे अलंकार माना तो कुछ ने रस का उपकारक माना। 'रीति' काव्य की आत्मा नहीं है किंतु काव्यात्मा रस की निष्पत्ति में निश्चित रूप से इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है। यह साध्य नहीं है किंतु महत्वपूर्ण साधन है। यह अभिव्यक्ति का माध्यम है लेकिन ऐसा माध्यम जो भावों को प्रभावित करता है। भाव यानी 'रस'। कहा जा सकता है कि 'रीति' सिद्धांत का काव्य में उच्च स्थान है।

2.4 ध्वनि संप्रदाय

'ध्वनि' को काव्य में रस के समकक्ष या रस के निकट या रस के निकटस्थ आत्मीय का स्थान दिया जाता रहा है। यह वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि और रसभावादि ध्वनि के रूप में काव्य में उपस्थित रहती है। व्यंग्य या व्यंजना के लिए 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग किया जाता है। व्यंग्य के रूप में ही ध्वनि को काव्य की आत्मा माना गया है। शब्द बोध की प्रक्रिया में सबसे पहले 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग वैयाकरणों ने किया। हर शब्द का कोई न कोई अर्थ होता है इसलिए शब्द और अर्थ का संबंध निश्चित माना जाता है।

किंतु किस शब्द का क्या अर्थ है, इसके पीछे समाज की कोई न कोई स्वेच्छा और स्वीकृति होती है। इसलिए शब्दार्थ का संबंध स्वेच्छया स्वीकृत होता है। शब्द की पहली शक्ति या व्यापार अभिधा है जिसके माध्यम से वह संकेतित अर्थ का ज्ञान कराती है। संकेतित अर्थ का तात्पर्य है-जो समाज ने व्यवहार, कोष आदि के आधार पर निर्धारित किया है। व्यक्ति को यह ज्ञान होना चाहिए कि कौन सा शब्द (ध्वन्यात्मक) किस अर्थ में ग्रहण किया जाएगा। इस ज्ञान के अभाव में वह संकेतित अर्थ को नहीं समझ सकेगा। उसमें सुख-दुख के भावों के संस्कार के साथ पद और शब्द के ज्ञान का संस्कार भी होना चाहिए, तभी अर्थ का उद्‌घाटन होगा।

2.4.1 ध्वनि का स्वरूप

ध्वनि सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य आनंदवर्धन हैं। उन्होंने अपने ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' में ध्वनि को परिभाषित किया है–

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत-स्वार्थौ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥

अर्थात जहां पर अर्थ अपने आपको अथवा शब्द अपने अभिप्राय को गौण कर किसी अन्य चमत्कारपूर्ण प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करता है, उस काव्य-विशेष को विद्वानों ने 'ध्वनि' की संज्ञा से अभिहित किया है। आनंदवर्धन ने 'ध्वनि' के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है–

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्-तत् प्रसिद्धावयवाति रिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥

अर्थात वह प्रतीयमान अर्थ अथवा ध्वनि जो महाकवियों की वाणी में विभासित होती है। वह कुछ और ही विलक्षण वस्तु होती है। वैसा ही विलक्षण जैसे रमणियों के शारीरिक अवयवों के अतिरिक्त उनका लावण्य एक विलक्षण वस्तु होता है। उपर्युक्त कारिका से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ध्वनि शब्दार्थ के स्वरूप से भिन्न कोई विलक्षण, चमत्कारपूर्ण और आकर्षक प्रतीयमान पदार्थ होता है। आचार्य मम्मट लिखते हैं–

'इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।'

अर्थात जहां व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक उत्तम और चमत्कारपूर्ण होता है उसे ही ध्वनि कहा जाता है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ भी यही कहते हैं–**"वाच्यातिशायिनी व्यंग्ये ध्वनिस्तत् काव्यमुत्तमम्।"** आचार्य आनंदवर्धन ने स्फोट को ध्वनि का पर्याय मानते हुए काव्य के सभी अंगों को इसमें समेटने का प्रयास किया। लोचनकार अभिनव गुप्त ने 'ध्वनि' शब्द की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या की तथा उसे पांच प्रकारों में बांट दिया–(1) वाचक ध्वनि, (2) वाच्य ध्वनि, (3) व्यंग्य ध्वनि, (4) व्यंजना व्यापार ध्वनि, (5) समुदाय रूप काव्य।

1. 'ध्वनति इति ध्वनिः' अर्थात जो ध्वनित करता है या कराता है। इससे वाचक और वाच्य का बोध होता है।

2. 'ध्वन्यत् इति ध्वनिः' अर्थात जो अर्थ ध्वनित होता है वह ध्वनि है अर्थात व्यंग्यार्थ।

3. 'ध्वननं इति ध्वनि:' अर्थात जो शब्दार्थ का 'ध्वनन' करता है अर्थात शब्दशक्ति व्यापार।

4. ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनि:' अर्थात जिसमें ध्वनित होता है– रस, अलंकार और वस्तु।

ध्वनिवादियों के अनुसार समस्त काव्य-व्यापार ही ध्वनि है। आनंदवर्धन ने ध्वनि सिद्धांत को प्रौढ़ता प्रदान की। उनके अनुसार ध्वनि ही काव्य की आत्मा है।

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरितिबुधैः यः समाम्नात् पूर्वम्।' पूर्ववर्ती आचार्यों ने इसे स्वीकार किया था किंतु इसे व्यवस्थित कर प्रकाश में लाने का श्रेय आनंदवर्धन को है। उन्होंने कहा यह सर्वांगपूर्ण स्वतंत्र सिद्धांत है। किसी पूर्ववर्ती सिद्धांत के भीतर इसका अंतर्भाव नहीं हो सकता। ध्वनिकार ने शब्दशक्ति 'व्यंजना' पर आश्रित ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है। और यह भी कि "जिस ध्वनि सिद्धांत का मैंने प्रतिपादन किया, वह वैयाकरणों के सिद्धांत (स्फोट सिद्धांत) पर आधारित है। जब किसी शब्द का उच्चारण किया जाता है तो उसकी पृथक-पृथक ध्वनियां कुछ अंशों में स्फोट के विशिष्ट ध्वनिक्रम में परिलक्षित होती हैं। अंतिम ध्वनि का लोप हो जाने पर इन ध्वनियों से परिलक्षित स्फोट की प्रतीति हो जाती है और इस प्रकार अर्थबोध हो जाता है। अत: पृथक-पृथक वर्णों की ध्वनि में भिन्न शब्द ध्वनि का समुदाय ही स्फोट है।" ध्वनिकार 'रसध्वनि' को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। अविवक्षित वाच्य ओर विवक्षितान्य परवाच्य नामक ध्वनि के दो भेद किए हैं। वे कहते हैं–काव्य के अर्थ दो प्रकार के होते हैं एक वाच्य और दूसरा प्रतीयमान। काव्य में वाच्यार्थ का सौंदर्य नहीं होता बल्कि व्यंग्यार्थ का ही सौंदर्य रहता है। वाच्यार्थ में अलंकार आदि होते हैं जबकि प्रतीयमान अर्थ में ध्वनि का समावेश होता है–

'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥'

ध्वनि सिद्धांत के अनुसार काव्य के तीन भेद हैं–(1) ध्वनि काव्य (उत्तम), (2) गुणीभूत व्यंग्य (मध्यम), (3) चित्र काव्य (अधम)। ध्वनिकार के कथनों का निष्कर्ष यही निकलता है कि 'ध्वनि' (व्यंग्यार्थ) शब्दार्थ से भिन्न तत्व है और यह लज्जा, लावण्य आदि के समान आंतरिक तत्व है। शब्दार्थ साधन है ओर ध्वनि साध्य। जिस प्रकार लावण्य के लिए अंगना के अंगों की और प्रकाश के लिए दीपशिखा की आवश्यकता होती है उसी तरह ध्वनि के लिए शब्दार्थ अपेक्षित है। 'ध्वनि' का विरोध करने और इस सिद्धांत को मान्यता देने की प्रक्रिया में अनेक वादों का जन्म हुआ–

- **अभाववाद**–अभाववादी ध्वनि की सत्ता को अस्वीकार करते हैं। भामह, दंडी, उद्भट आदि का मानना है कि अलंकार, रीति आदि तत्वों की स्वीकृति के बाद 'ध्वनि' तत्व की आवश्यकता ही नहीं है।
- **अलक्षणीयता वाद**–इसके समर्थक ध्वनि को अलक्षणीय अर्थात अनिर्वचनीय मानते हैं–**'केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्वमूचुस्तदीयम्।'** अर्थात यह कि ध्वनि वचनों से न व्यक्त किया जा सकने वाला एक आंतरिक तत्व है, अत: यह वर्णन का विषय नहीं बन सकता।' इस धारणा से ध्वनि की प्रतिष्ठा में वृद्धि ही हुई।

- **अभिधावाद**–भट्टलोल्लट जैसे अभिधावादियों का यह मानना है कि 'यत्पर: शब्द: स शब्दार्थ:' अर्थात वक्ता को एक शब्द का जितना भी अर्थ अभीष्ट होता है, वह शब्द उतने ही अर्थ का वाचक होता है। दूसरे शब्दों में वह संपूर्ण अर्थ अभिधागम्य होने के कारण वाच्यार्थ कहलाता है, व्यंग्यार्थ नहीं।
- **व्यंजनावाद**–व्यंग्यार्थ का कारण 'शब्द' को नहीं मानते। क्योंकि शब्द न तो कारण निमित्त है न ज्ञापक। शब्द व्यंग्यार्थ का प्रकाशक है। अन्विताभिधानवादी कहते हैं–अभिधा शक्ति पदार्थ का सामान्य ज्ञान कराने के साथ वाक्य के अन्वितार्थ का विशेष ज्ञान कराती है। अत: विशेष ज्ञान के अंतर्गत व्यंग्यार्थ के भी सम्मिलित हो जाने के कारण व्यंजना शक्ति की स्वीकृति नहीं की जानी चाहिए। अभिहितान्वयवादी कहते हैं। अभिधा शक्ति जब परस्पर संबद्ध वाक्यार्थ का ज्ञान बिना तात्पर्य वृत्ति माने नहीं करा सकती, तो यह व्यंग्य जैसे दूरवर्ती अर्थ का बोध कैसे करा सकती है?

धनंजय और धनिक जैसे तात्पर्यवादी आचार्यों का कथन अलग है। धनंजय कहते हैं–"जिस प्रकार 'द्वार-द्वार' कहने से वक्ता की अश्रूयमाण क्रिया 'खोलो' अथवा 'बंद करो' का ज्ञान प्रकरणादि-वश वाक्यार्थ अर्थात तात्पर्या वृत्ति द्वारा हो जाता है, उसी प्रकार विभावादि युक्त काव्य में स्थापित भाव का ज्ञान भी काव्य के वाक्यार्थ (तात्पर्य) से ही हो जाता है।" धनिक कहते हैं–"जैसे काव्य कवि के तात्पर्य पर आश्रित रहता है वैसे ही लौकिक वाक्य वक्ता के तात्पर्य पर आश्रित होता है और तात्पर्य की कोई सीमा नहीं होती।" लक्षणावादी–भट्ट, उद्भट जैसे आचार्य मानते हैं कि व्यंग्यार्थ का अंतर्भाव लक्ष्यार्थ में किया जाना चाहिए। अत: लक्षणाशक्ति से परे व्यंजना शक्ति को मानने की आवश्यकता नहीं है। ये ध्वनि को लक्षणा-गम्य मानते हैं। अनुमितिवादी महिमभट्ट ने ध्वनि को अनुमान में अंतर्भूत करने के लिए 'व्यक्ति विवेक' नामक ग्रंथ की रचना की। इस तरह भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपने-अपने तर्क देकर यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि ध्वनि रस की अपेक्षा अधिक व्यापक है और ध्वनि तत्व में हर प्रकार का काव्य-चमत्कार अंतर्भूत हो जाता है इसलिए यह महत्वपूर्ण और व्यापक काव्य तत्व है। अत: ध्वनि ही काव्य की आत्मा है।

2.4.2 ध्वनि सिद्धांत की प्रमुख स्थापनाएं

आनंदवर्धन ने नवीं शताब्दी में ध्वन्यालोक ग्रंथ लिखा एवं घोषणा की कि–'ध्वनि काव्य की आत्मा है।' इसके पश्चात् दसवीं, ग्यारहवीं शताब्दी में अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक पर 'लोचन' नामक टीका लिखी। यह मूल ग्रंथ से अधिक सशक्त और लोकप्रिय ध्वन्यालोक की पोषिका सिद्ध हुई। रसवादी आचार्य अभिनवगुप्त ने रस और ध्वनि के अभिन्न संबंधों की स्थापना करते हुए कहा–'रस वाच्य न होकर व्यंग्य होता है। काव्य का सर्वस्व रसध्वनि है और वस्तु ध्वनि तथा अलंकार ध्वनि भी अंतत: रस ध्वनि का ही पोषण करती है। इस मान्य सिद्धांत ने अभिनवगुप्त को प्रतिष्ठा प्रदान की तथा ध्वनि सिद्धांत को और स्थायित्व प्राप्त हुआ।

ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में मम्मट का आगमन हुआ। तब तक मुकुलभट्ट, भट्टनायक, धनंजय, धनिक, महिम भट्ट आदि विद्वान ध्वनि का खंडन कर चुके थे। मम्मट

ने 'काव्यप्रकाश' ग्रंथ की रचना की तथा ध्वनि सिद्धांत को स्थापित किया। काव्य के तीन भेद ध्वनि के आधार पर किए। पंडितराज जगन्नाथ ध्वनि सिद्धांत के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने ध्वनि के आधार पर काव्य के चार भेद स्वीकार किए तथा दूसरे प्राचीन ध्वनिवादी रस को केवल असंलक्ष्य क्रम-व्यंग्य ध्वनि ही मानते थे। पंडितराज ने रस को संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनि के अंतर्गत भी सिद्ध किया।

मुकुलभट्ट केवल अभिधा की शक्ति को स्वीकार करते थे, व्यंजना की नहीं। ये अभिधावादी आचार्य थे। प्रतिहारेन्दुराज अलंकारवादी आचार्य थे। इन्होंने ध्वनि का विरोध किया। इन्होंने रसध्वनि को रसवद्अलंकार, वस्तुध्वनि को पर्यायोक्त अलंकार तथा अलंकार ध्वनि को श्लेष में अंतर्भुक्त कर इनकी विवेचना की तथा व्यंजना का विरोध किया। भट्टनायक रसवादी एवं ध्वनि विरोधी आचार्य थे। इन्होंने व्यंजना वृत्ति को अस्वीकार करते हुए केवल 'भावकत्व' व्यापार का समर्थन किया, जिसके आधार पर साधारणीकरण जैसे प्रसिद्ध सिद्धांत की स्थापना की। धनंजय और धनिक ने व्यंजना वृत्ति के स्थान पर तात्पर्य वृत्ति को समर्थन दिया। धनंजय ने 'दशरूपक' ग्रंथ लिखा जिसकी 'अवलोक' नामक टीका धनिक ने लिखी। ये आचार्य ध्वनि सिद्धांत का अंतर्भाव 'तात्पर्य वृत्ति' में करते हैं। इनके अनुसार प्रतीयमान अर्थ तात्पर्य वृत्ति का अभिन्न अंग है अतः अलग से व्यंजना वृत्ति को मान्यता देने की आवश्यकता नहीं है। वे कहते हैं–किसी भी वाक्य का वही अर्थ होगा जिसे वक्ता कहना चाहता है या जिस तात्पर्य को लेकर कोई वक्ता किसी वाक्य का कथन करता है। ये यह भी कहते हैं कि काव्य में जिस व्यंग्य-व्यंजक भाव की कल्पना ध्वनिवादी करते हैं, वह ठीक नहीं है। काव्य का रस के साथ भाव्य-भावक संबंध होता है और इसी से साधारणीकरण की अवस्था आती है।

कुंतक ने ध्वनि का विरोध न करते हुए भी उसके समस्त भेदोपभेदों को वक्रोक्ति के अंतर्गत दर्शाने का प्रयास किया। इन्होंने ध्वनि के स्थान पर वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग किया है। शेष प्रक्रिया समान है। जैसे 'अर्थांतर संक्रमित वाच्य ध्वनि' के उदाहरण को कुंतक पदपूर्वार्ध वक्रता के एक भेद रूढ़िवैचित्र्य वक्रता के उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। कुंतक ध्वनिवादियों की तरह काव्य में कल्पना तत्व के पक्षधर हैं। अंतर यह है कि ध्वनिवादी कल्पना को आत्मगत मानते हैं और कुंतक उसे वस्तुगत मानते हैं।

महिमभट्ट नैयायिक थे। इन्होंने ध्वनि सिद्धांत का विरोध करने के लिए व्यक्ति विवेक नामक ग्रंथ लिखा। ये व्यंजना की सिद्धि अनुमान द्वारा करते हैं। इनके दोषपूर्ण सिद्धांत को अमान्य ठहराया गया। शब्द शक्तियां अभिधा, लक्षणा और व्यंजना में व्यंजना का ध्वनि सिद्धांत से गहरा संबंध है। अभिधा संकेतित अर्थ का बोध कराती है। लक्षणा मुख्यार्थ से किसी न किसी रूप में संबद्ध अर्थ का बोध कराती है किंतु व्यंजना उस प्रतीयमान अर्थ का बोध कराती है जो शब्दों से उसी तरह झलकता है जैसे सुंदरी के अंगों से लावण्य। व्यंजना शब्द और अर्थ दोनों में विद्यमान रहती है। ध्वनि सिद्धांत का मूल आधार व्यंजना शक्ति है। व्यंग्य काव्य का प्राण है, ऐसा माना जाता है। इसी व्यंजना शक्ति के भेद, उपभेद के आधार पर ध्वनि के भेद किए गए हैं। ध्वनि सिद्धांत पहला ऐसा भारतीय काव्यशास्त्री सिद्धांत है जिसमें कल्पना तत्व को स्वीकार किया गया है। ध्वनिकार का यह प्रयत्न था कि ध्वनि सिद्धांत की स्थापना भी हो जाए तथा काव्य के अन्य अवयवों– रस, रीति, अलंकार, गुण, वक्रोक्ति, औचित्य आदि का

उसमें ठीक तरह से समावेश हो जाए। उन्होंने इन सभी अवयवों को व्यंग्य माना और व्यंग्य के कारण वे ध्वनि में अंतर्भुक्त हो गए।

2.4.3 ध्वनि काव्य के प्रमुख भेद

ध्वनि के सर्वप्रथम 2 भेद किए जाते हैं- अभिधामूलक और लक्षणामूलक। अभिधामूलक में सीधे अभिदेय अर्थ से ही व्यंग्यार्थ ध्वनित हो जाता है, जबकि लक्षणामूलक में लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है।

अभिधामूलक के दो उपभेद - 1. असंलक्ष्यक्रम ध्वनि और 2. संलक्ष्यक्रम ध्वनि हैं। जहां वाच्यार्थ के साथ-साथ ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, दोनों के बीच में कोई अंतर नहीं होता- वहां असंलक्ष्यक्रम ध्वनि होती है। जैसे "अरे! यह तो यहां रुपये का दो छटांक मिलता है।" इनका व्यंग्यार्थ है कि यहां महंगाई बहुत है। संलक्ष्यक्रम ध्वनि में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के बोध होने का क्रम प्रतीत हो जाता है। जैसे-

माली आवत देख के कलियां करें पुकार।

फूले फूले चुनि लिए कालि हमारी बार॥

यहां माली के स्थान पर काल या मृत्यु संबंधी जिस अर्थ का बोध होता है, वही व्यंग्यार्थ है।

अभिधामूलक के दोनों भेदों में प्रथम के अंतर्गत रस को रखा गया है और दूसरी के अंतर्गत वस्तु एवं अलंकार का परिगणन किया गया है। इन्हें विद्वान रस ध्वनि, वस्तु एवं अलंकार ध्वनि भी कहते हैं।

लक्षणामूलक ध्वनि के भी दो भेद किए गए हैं-1. अर्थांतर संक्रमित वाच्य ध्वनि और 2. अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि। लक्षणा में मूल वाच्यार्थ की उपेक्षा होती है। इस उपेक्षा की दो कोटियां हैं- एक जहां थोड़ी उपेक्षा हो जाती है, दूसरी जहां बिल्कुल हो जाती है। लक्षणामूलक ध्वनि के दोनों भेद क्रमशः इन्हीं दो कोटियों पर आधारित हैं।

अर्थांतर संक्रमित वाच्य में वाच्यार्थ थोड़ा-सा अन्य अर्थ में संक्रमित हो जाता है। जैसे- **"राखी सजी पर कलाई नहीं है।"** यहां कलाई का व्यंग्यार्थ है भाई की कलाई या वह भाई जिसको राखी बांधी जा सके। स्पष्ट है कि यहां 'कलाई' का अर्थ संक्रमित हो गया है।

अत्यंत तिरस्कृत वाच्य में वाच्यार्थ का बिल्कुल तिरस्कार हो जाता है। जैसे-"पेट में तो चूहे कूद रहे हैं।" यहां व्यंग्यार्थ में 'चूहे' शब्द का अर्थ सर्वथा तिरस्कृत हो जाता है।

चमत्कार की दृष्टि से ध्वनि के तीन भेद बताए जाते हैं–(1) शुद्ध ध्वनि चमत्कार, (2) गुणीभूत व्यंग्य, (3) ध्वनि का अभाव–इसे चित्रकाव्य या अधम काव्य भी कहते हैं।

- **शुद्ध ध्वनि चमत्कार**–जहां वाच्यार्थ की तुलना में व्यंग्यार्थ की ही प्रधानता हो।
- **गुणीभूत व्यंग्य ध्वनि**–जहां पर वाच्यार्थ की प्रधानता हो किंतु उसमें गौण रूप में व्यंग्य भी हो वहां पर गुणीभूत व्यंग्य ध्वनि होती है। ऐसे स्थलों पर व्यंग्य वाच्य की तुलना में अधिक रमणीय नहीं होता वह या तो वाच्य के समान ही रमणीय होता है या फिर उससे कम किंतु वहां पर व्यंग्य रहता अवश्य है। इसके आठ भेद होते

हैं–(क) अगूढ़ व्यंग्य, (ख) अपरांग व्यंग्य, (ग) वाच्यसिद्धयंग व्यंग्य, (घ) अस्फुट व्यंग्य, (ङ) असंदिग्ध व्यंग्य, (च); तुल्यप्राधान्य व्यंग्य, (छ) काक्वाक्षिप्त व्यंग्य और (ज) असुंदर व्यंग्य।

(क) **अगूढ़ व्यंग्य**–वाच्यार्थ के सामन ही स्पष्ट प्रतीत होने वाले व्यंग्य को अगूढ़ व्यंग्य कहा जाता है अर्थात जहां पर व्यंग्य गूढ़ या अस्पष्ट न हो–

पुत्रवती जुबती जग सोई।
रघुपति भगतु जासु सुत होई॥

उपर्युक्त अर्धाली में 'जिसके रामभक्त पुत्र हो वही पुत्रवती होती है' कहा गया है किंतु व्यवहार में वह स्त्री भी पुत्रवती कहलाती है जिसका पुत्र रामभक्त नहीं होता। अत: यहां पर मुख्यार्थ अगूढ़ हुआ। अर्थांतर में संक्रमण होने से वहां पर स्पष्टत: अविवक्षित वाच्य (जहां पर वाच्यार्थ/अभिधार्थ अभिप्रेत नहीं है) ध्वनि है।

(ख) **अपरांग व्यंग्य**–जहां पर एक व्यंग्य किसी दूसरे व्यंग्य का अंग बन कर उपस्थित हुआ हो वहां पर अपरांग व्यंग्य होता है, जैसे–

डिगत पानि डिगुलात गिरि, लखि सब व्रज बेहाल।
कम्प किसोरी दरस तैं खरे लजाने लाल॥

उपर्युक्त पद्य में कृष्ण का लज्जा भाव उसका कम्प सात्विक भाव का अंग बन कर उपस्थित हुआ है। अत: यहां पर अपरांग व्यंग्य है।

(ग) **वाच्य सिद्धयंग व्यंग्य**–जहां पर व्यंग्य वाच्य की सिद्धि के लिए उपस्थित किया गया हो वहां पर वाच्य सिद्धयंग व्यंग्य होता है। जैसे–

सोती थी सुहाग भरी, स्नेह स्वप्न मग्न।
अमल कोमल, तनु तरुणी, जूही की कली।
दृग बंद किए, शिथिल पत्रांक में॥

उपर्युक्त पद्य में नववधू व्यंग्य प्रकृति चित्रण वाच्य की सिद्धि के रूप में प्रस्तुत हुआ है। अत: वहां पर वाच्य सिद्धयंग व्यंग्य है।

(घ) **अस्फुट व्यंग्य**–जहां पर व्यंग्य तो हो किंतु स्पष्ट न हो। जिसे अच्छे से अच्छे काव्य-मर्मज्ञ सहृदय जन कठिनता से भी चिह्नित कर पाएं वहां पर अस्फुट व्यंग्य होता है, जैसे–

खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगंध के प्रथम वसंत में गुच्छ-गुच्छ।

यहां पर नवयौवना व्यंग्य है किंतु स्पष्ट नहीं है।

(ङ) **संदिग्ध प्रधान व्यंग्य**–जहां परवाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्रधानता में संदेह उत्पन्न हो जाए कि वाच्यार्थ प्रधान है अथवा व्यंग्यार्थ प्रधान है वहां पर संदिग्ध प्रधान व्यंग्य होता है, जैसे–

अधिक सनेह देह भई भोरी।
सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।

उपर्युक्त अर्धाली में 'जिस प्रकार शरदकालीन चंद्रमा को देखकर चकोर स्नेह विभोर हो जाती है उसी प्रकार सीताजी श्री राम को देखकर आत्मविभोर हो गईं वाच्यार्थ है किंतु 'देह भई भोरी' वाच्य में 'जड़ता' संचारी भाव भी व्यंजित हो रहा है। इन दोनों अर्थों में कौन-सा अर्थ प्रधान है? इसका संदेह बना हुआ है। अतः यहां पर संदिग्ध प्रधान व्यंग्य है।

(च) **तुल्य प्रधान व्यंग्य**–जहां पर वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ के समान रूप से चमत्कारपूर्ण होने के कारण पद में दोनों ही अर्थों की समान रूप से प्रधानता हो वहां पर तुल्य प्रधान व्यंग्य होता है, जैसे–

आज बचपन का कोमल गात। कल जरा का पीला पात।

चार दिन सुखद चांदनी रात। और फिर अंधकार अज्ञात।

उपर्युक्त पद्य में 'कोमल बचपन के पश्चात जर्जरित बुढ़ापा आता है और चार दिन की चांदनी के पश्चात अंधकार आ जाता है' वाच्यार्थ है और 'जीवन में सुख-दुख का क्रम चलता रहता है तथा परिवर्तन अवश्यंभावी है' व्यंग्यार्थ है। दोनों ही समान रूप से चमत्कारपूर्ण होने के कारण यहां पर तुल्य प्रधान व्यंग्य है।

(छ) **काक्वाक्षिप्त व्यंग्य**–काकू के द्वारा प्रकाशित व्यंग्य को काक्वाक्षिप्त व्यंग्य कहते हैं किंतु ऐसे स्थल पर वाच्यार्थ ही अधिक चारु होता है, जैसे–

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू।
तुम्हहि उचित तप मो कहं भोगू॥

उपर्युक्त अर्धाली में सीताजी के कथन में जहां काकु वक्रोक्ति का चमत्कार वाच्य है वहां पर 'हे राम आप भी वन जाने योग्य नहीं हैं।' व्यंग्य भी है जो काक्वाक्षिप्त है।

(ज) **असुंदर व्यंग्य**–जहां पर वाच्यार्थ की तुलना में व्यंग्यार्थ मनोहर न होकर असुंदर या अश्लील हो वहां पर असुंदर व्यंग्य होता है, जैसे–

"दो काष्ठों की संधि बीच, उस निभृत गुफा में अपने।
अग्नि-शिखा बुझ गयी, जैसे जगने पर सुख सपने॥

उक्त पंक्तियों में यौनांगों और संसर्ग का व्यंग्य असुंदर है।

ध्वनिहीन व्यंग्य (चित्र काव्य)–जहां पर व्यंग्य हो ही नहीं केवल शब्द या अर्थ का ही भाव चमत्कार हो वहां पर ध्वनिहीन व्यंग्य होता है, जैसे–

चाची जी चौके में चलकर चमचे से चावल चला।

इस वाक्य मे केवल 'च' वर्ण की आवृत्ति का चमत्कार मात्र है। 'अलंकार शब्दगत और अर्थगत दोनों होते हैं। जहां चमत्कार शब्दालंकार मात्र पर हैं वहां शब्दचित्रकाव्य होगा तथा जहां चमत्कार केवल अर्थालंकार मात्र है वहां अर्थ चित्र काव्य होगा।'

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के क्रमिक विकास में प्लेटो, अरस्तू, लोंजाइनस, क्रोचे, कॉलरिज, वड्र्सवर्थ, आई. ए. रिचर्ड्स, टी.एस. इलियट आदि महत्वपूर्ण आलोचकों व साहित्यकारों का योगदान है। प्लेटो कला में अनुकरण और आनंद की बात करते हैं। साहित्य में काव्यगत न्याय की प्रतिष्ठा का श्रेय प्लेटो को जाता है। कला-शिल्प से परिचित होना, कला-साधना के लिए गहन चिंतन करना और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सोचना प्लेटो का पक्ष था। दार्शनिकों की तरह प्लेटो की दार्शनिक वकालत का महत्वपूर्ण स्थान है।

इकाई 3 पाश्चात्य काव्य सिद्धांत –I

3.0

अरस्तू ने प्लेटो के 'अनुकरण' शब्द की नई दृष्टि से समीक्षा की। अरस्तू के अनुसार अनुकरण भावना मय होता है। वे कविता को इतिहास की अपेक्षा अधिक दार्शनिक तथा उच्चतर वस्तु मानते हैं। वे महाकाव्य, करुण साहित्य, गीतिकाव्य, मुरली एवं वीणा बजाने को अनुकरण की रीतियां मानते हैं। अरस्तू मानते हैं कि त्रासदी करुणा तथा त्रास के कृत्रिम उद्रेक द्वारा मानव के वास्तविक जीवन की करुणा और त्रास जैसी भावनाओं का निष्कासन करती है। यह प्लेटो के उस आक्षेप का उत्तर है जिसमें वे कहते हैं कि त्रासदी का नायक अपनी आपदाओं और कष्टों पर रुदन-विलाप कर दर्शकों के भावों को उद्दीप्त करता है। वास्तविक जीवन में हम अपने कष्टों पर रोने वाले को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते। अरस्तू के ये दोनों सिद्धांत पाश्चात्य काव्यशास्त्र की अमूल्य उपलब्धि हैं। अरस्तू ने अगली पीढ़ी का पथ प्रशस्त किया और उन्हें चिंतन की नयी दिशा दी।

उदात्त का भाव दैवीय गुण है। मृत्यु लोक में कर्म करके मनुष्य को उदात्त होने और देवत्व प्राप्त करने का अवसर ईश्वर और प्रकृति से प्राप्त होता है। लोंजाइनस का मत है कि हम श्रेष्ठ कर्म करें और औदात्य को प्राप्त करें। काव्य इसमें सहयोगी और प्रेरक बनता है। वे कहते हैं मनुष्य के जीवन का ध्येय ही औदात्य की प्राप्ति होना चाहिए। क्रोचे का आविर्भाव ऐसे स्वच्छंदवादी कला के युग में हुआ जब कहा जाता था कि बच्चों को चित्रकार बनाने के लिए चित्रकला की शिक्षा नहीं देनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने से बच्चे के कोमल मन पर दूसरों के विचार अड्डा जमा लेंगे और वह स्वतंत्र मौलिक अभिव्यंजना नहीं कर पाएगा, उसकी प्रतिभा कुंठित हो जाएगी। क्रोचे विशुद्ध कलावादी ही माने जाते हैं।

कॉलरिज संपूर्ण जगत को चेतना की अभिव्यक्ति मानते हैं तथा जड़ और चेतन में सामंजस्य स्वीकार करते हैं। वे ब्रह्मवादियों की तरह आत्मा और जगत को एक ही सत्ता के दो रूप मानते हैं। कोरे अंधानुकरण को कॉलरिज जीवन की यांत्रिक नकल तथा प्रकृति की चोरी मानते हैं। कविता गद्य से श्रेष्ठ होती है, तथा छंद ध्यान और साधारण भावों की प्रफुल्लता को बढ़ा देता है, यह मत व्यक्त करते हुए वे छंद को खमीर की प्रकृति का घोषित करते हैं।

वड्र्सवर्थ ने भाषा की सरलता पर बल दिया ताकि जनसाधारण उसे समझ सके। वे तीव्र भावावेग के क्षणों में लिखी गई कविता को महान मानते हैं। वे कविता को छंदमयी मानते हैं तथा छंद को महत्वपूर्ण शक्तिशाली तथा प्रभावशाली मानते हैं। वे भावनाओं के सहज उच्छलन तथा विराट संवेदन को काव्य का आवश्यक गुण मानते हैं।

वे कहते हैं, कल्पना के बल पर उच्च कोटि की प्रतिभाएं प्रकृति की प्रतिकृति को अंकित कर सकती हैं। कॉलरिज की तरह वे मानते है कि फैंसी का सबंध स्थिर तथा निश्चित वस्तुओं से है, जबकि कल्पना का सबंध परिवर्तनशील अनिश्चित तथा सूक्ष्म वस्तुओं से है। वे कहते है कि काव्य का प्रयोजन ज्ञानवर्धन, सुख तथा मानसिक नैतिक स्वास्थ्य वर्धन है। वड्र्सवर्थ ने लिरिकल बैलेड्स की रचना कर पाश्चात्य कवियों में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाया।

मनोवैज्ञानिक एवं काव्यशास्त्री रिचड्र्स 'कला कला के लिए' सिद्धांत के विरोधी हैं। वे काव्य में साधारणीकरण को महत्व देते हैं। वे कॉलरिज के बड़े समर्थक हैं तथा काव्य में कल्पना को महत्व देते हैं। रूढ़ नैतिकता के स्थान पर प्रकृतिवाद-विषयक नैतिकता के पक्षध र हैं। रिचड्र्स कहते हैं, अच्छा वही है जो मूल्यवान हो और मूल्यवान वह है जो मन में संगतिपूर्ण संतुलन स्थापित करे।

स्वयं को अभिजात्यवादी मानने वाले इलियट काव्य के मूल्यांकन के लिए परंपरागत नियमों का तिरस्कार करते हैं। परंपरा से उनका तात्पर्य इतिहास बोध से है। इतिहास बोध के कारण ही हम होमर से आज तक की सभी रचनाओं और रचनाकारों से परिचित हैं। इलियट कहते हैं- विवेचना के नाम पर मात्र तथ्यों का विश्लेषण एवं प्रस्तुतीकरण ही स्वस्थ आलोचना है।

इस इकाई में पाश्चात्य जगत के कुछ प्रसिद्ध विद्वानों की विभिन्न काव्यशास्त्रीय विचारधाराओं का विस्तार से वर्णन किया जा रहा है।

3.1 इकाई के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विकास क्रम का विश्लेषण कर पाएंगे;
- प्लेटो के काव्य सिद्धांतों का विवेचन कर पाएंगे;
- अरस्तू के अनुकरण एवं विरेचन की प्रकृति की पहचान कर पाएंगे;
- अरस्तू द्वारा वर्णित त्रासदी विवेचन के स्वरूप की व्याख्या कर पाएंगे;
- लोंजाइनस द्वारा प्रणीत उदात्त तत्व की समीक्षा कर पाएंगे;
- क्रोचे के अभिव्यंजना सिद्धांत की विशेषताओं का वर्णन कर पाएंगे;
- कॉलरिज के कल्पना सिद्धांत के स्वरूप का मूल्यांकन कर पाएंगे;
- वड्र्सवर्थ के काव्य भाषा सिद्धांत के गुण-दोषों का तुलनात्मक अध्ययन कर पाएंगे;
- आई.ए. रिचड्र्स के मूल्य सिद्धांत एवं काव्य भाषा की समीक्षा कर पाएंगे;
- टी.एस. इलियट के काव्य सिद्धांत की विशेषताओं का वर्णन कर पाएंगे।

3.2 पाश्चात्य काव्यशास्त्र का विकास क्रम

पाश्चात्य काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परंपरा का मूल यूनान में माना जाता है। सुकरात के शिष्य प्लेटो को प्रथम पाश्चात्य समीक्षक होने का गौरव प्राप्त है। माना जाता है कि प्लेटो के समय का समाज पतित एवं विकृत दशा में था। वे अपने समाज का उत्थान करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने साहित्य और ज्ञान की हर विधा को सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से परखा। तत्कालीन रचे जा रहे साहित्य को, काव्य को उन्होंने हीन दृष्टि से देखते हुए उस पर आरोप लगाए। हालांकि प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने इन आक्षेपों का समुचित उत्तर दिया। अरस्तू की विचारधारा साहित्य के प्रति स्वस्थ और सकारात्मक थी। उन्होंने काव्य-रचना विषयक सिद्धांतों की समीक्षा की, व्याख्या की और काव्य प्रकृति के वास्तविक रूप को समझने पर बल दिया। प्लेटो ने कहा था कि साहित्य को समाजोपयोगी होना चाहिए, अरस्तू ने उसके आनंद तत्व को प्रधानता दी। कृति की कलात्मकता और गठन पर बल दिया। अरस्तू के पश्चात यूनान में कुछ काल तक अलंकारशास्त्र और वक्तृत्व कला पर ही रचनाएं होती रहीं। साहित्य-समीक्षा में अवरोध उत्पन्न हुआ। अरस्तू के बाद लोंजाइनस प्रसिद्ध समीक्षक हुए जिनका मत था कि पाठक या श्रोता को तन्मय कर देना ही काव्य का लक्ष्य है। स्कॉट जेम्स ने इन्हें प्रथम स्वच्छंदतावादी या सौंदर्यवादी समीक्षक कहा क्योंकि इन्होंने सर्वप्रथम कवि, काव्य और भावक तीनों के गुणों की विवेचना की। उपरोक्त तीनों यूनानी समीक्षकों का स्थान सर्वोच्च माना जाता है।

सन् 1400 ई-1660 ई. तक का काल अंग्रेजी साहित्य में पुनर्जागरण का काल माना गया है। इस काल में कुछ मानववादी, कुछ बुद्धिवादी समीक्षक हुए। कुछ समीक्षकों जैसे विवेस और इरास्मस ने प्राचीन के अंधानुकरण का विरोध किया, वे यांत्रिक अनुकरण के विरोधी थे। कुछ नवीन किए जाने के पक्षपाती थे। अतः इन दोनों ने 'वस्तु' और 'शैली को महत्व देते हुए समीक्षा प्रस्तुत की।

1570 ई. के बाद साहित्य की प्रकृति तथा कला की गंभीर व्याख्या की गई। सुधारवादियों ने साहित्य पर अनैतिकता का आरोप लगाया तो रिचर्ड विलियम्स जैसे समीक्षकों ने इसका तर्क सम्मत उत्तर देते हुए काव्य को अंतःशक्ति से उत्पन्न, गुण संपन्न एवं आनंदप्रद बताया। इस युग के एक अन्य समीक्षक पटेन्हम ने "दैवीय प्रेरणा, लोक जीवन के अनुभव और प्राकृतिक शक्ति तीनों को काव्य का हेतु माना और कल्पना को काव्य निर्माण के लिए आवश्यक कहा।" पटेन्हम की मान्यता थी कि कवि को औचित्य का ध्यान रखना चाहिए तथा अलंकरण-विधान छिपे रूप में करना चाहिए। बेन जॉनसन ने अपनी महत्वपूर्ण कृति 'डिस्कवरीज' में स्वस्थ विचार और उपयुक्त शैली को काव्य के लिए आवश्यक माना। प्रतिभा, अभ्यास, व्यापक अध्ययन एवं महान कवियों के अनुकरण को वे काव्य का हेतु मानते थे। वे प्रथम समीक्षक थे जिन्होंने व्यावहारिक समीक्षा में व्यक्तिगत दृष्टिकोण उपस्थित किया।

16 वीं शताब्दी के अंत में उपरोक्त समीक्षकों के विचारों को दृष्टिगत रखते हुए साहित्यिक नियम बनने लगे। बोयलो ने अपनी कृति 'आर्ट पोएटिक' में काव्य के उद्देश्य, शैली, प्रकृति एवं रूपों के विषय में नियम निर्धारित किए। माना जाता है कि इन नियमों के

पालन में बंधी हुई लीक के बीच साहित्य की आत्मा घुटने लगी और प्रतिक्रिया स्वरूप स्वच्छंदता के लिए विद्रोह भी दृष्टिगोचर होने लगा। सैंट एग्रमो ने नियम और बुद्धि के सीमित प्रयोग की बात कही तथा साहित्य के ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक अध्ययन की प्रवृत्ति पर बल दिया। इसके अतिरिक्त त्रासदी में अतिप्राकृत तत्वों का विरोध करते हुए उन्होंने साहित्य को युग की पृष्ठभूमि में देखने की प्रेरणा दी।

17 वीं शताब्दी में नवक्लासिकवादी और स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों में संघर्ष बना रहा। 18 वीं शताब्दी के आरंभ में साहित्य की सुगमता, सरलता एवं स्पष्टता पर बल देने के साथ प्राचीन साहित्य पर चिंतन एवं स्वच्छंद प्रकृति के विकास पर गतिविधियां चलती रहीं। बुद्धि को कल्पना से अधिक महत्व देने के साथ कल्पना के सौंदर्य और गौरव पर व्याख्याएं प्रस्तुत हुईं। शैली पर तर्क-वितर्क चलते रहे। पोप एवं डॉ. जानसन जैसे समीक्षकों ने प्राचीन साहित्य को नई दृष्टि से व्याख्यायित करते हुए कहा कि साहित्य का परीक्षण सार्वभौम प्रकृति के आधार पर होना चाहिए। यह बुद्धि-विवेक का युग था।

1798 ई. में वर्डसवर्थ के 'लिरिकल बैलेड्स' के प्रकाशन के साथ ही अंग्रेजी साहित्य में स्वच्छंदतावाद ने पांव जमा लिए। फ्रांस की राज्यक्रांति, रूसो, वोल्तेयर और गेटे की दृष्टि और रचनाओं ने इस प्रवृत्ति को प्रबल बनाया। कॉलरिज, शैली और कीट्स ने इसमें सहयोग दिया। काव्य में आनंद मूल्य को महत्वपूर्ण माना जाने लगा। कल्पना, सौंदर्य, रहस्य की छायाएं काव्य में दिखाई देने लगीं।

19 वीं शताब्दी में राजनैतिक, वैज्ञानिक, औद्योगिक, मनोवैज्ञानिक आदि क्रांतियों ने साहित्य को प्रभावित किया और साहित्य जीवन के निकट आ गया। जीवन की तरह ऊबड़-खाबड़ गद्य की प्रधानता हो गई। इस युग में कथ्य पर ध्यान देने वाले कार्लाइल, रस्किन, टॉलस्टाय जैसे नीतिवादी समीक्षकों का मत था कि कला एक दिव्य शक्ति है और कुरूपता को कला द्वारा ही दूर किया जा सकता है। इस सदी के अंत में 'कला कला के लिए' का आंदोलन चल पड़ा। वाल्टर पेटर ने इस मत को प्रतिष्ठित करते हुए नीतिवादिता से दूर रहकर सूक्ष्म सौंदर्य की आराधाना की बात कही। जबकि स्विनबर्न ने 1866 ई. में 'Poems and Ballads' लिखकर विक्टोरियन युग की नैतिकता को प्रबल चुनौती देते हुए 'कला कला के लिए' का विरोध किया।

20 वीं शताब्दी का आरंभ अंग्रेजी समाज एवं साहित्य के लिए बेहद अव्यवस्था का समय था। कुंठा, निराशा, अनास्था, अमानवीयता आदि प्रवृत्तियों के बीच आलोचना का आरंभ हुआ। इरविंग बेबिट एवं ह्यूम ने नीति एवं आचार पर बल देते हुए स्वच्छंदतावादी काव्य में बिंबवाद का विरोध किया। आत्मवादी इटालियन दार्शनिक क्रोचे ने भौतिकवाद का विरोध किया और कहा कि कलात्मक सृजन सहजानुभूति की क्रिया है। आधुनिक युग में मनोवैज्ञानिक आलोचना का दौर आरंभ हुआ। आई.ए. रिचर्ड्स, टी.एस. इलियट, फ्रायड और मार्क्स जैसे समीक्षक एवं विचारक इस युग में हुए। मार्क्स की समाजवादी आलोचना और फ्रायड के काम-संबंधी विवेचन (जिसमें वे जीवन में काम को मूल-वृत्ति तथा साहित्य को काम-कुंठाओं की अभिव्यक्ति मानते हैं), ने आलोचना पर पर्याप्त प्रभाव डाला। अधुनातन समीक्षाओं का दौर नई-दृष्टियों से संपन्न होता हुआ निरंतर जारी है।

3.3 प्लेटो

प्लेटो दार्शनिक होते हुए भी सहृदय कवि थे आलोचक नहीं, इसलिए उनकी आलोचनाएं किसी एक कृति में संगृहीत नहीं मिलतीं। प्लेटो से पूर्व काव्य-समीक्षा संबंधी विचार स्फुट रूप में प्राप्त होते हैं। जैसे होमर का मत है कि 'काव्य का लक्ष्य आनंद देना है और कवि यह आनंद कलात्मक भ्रम द्वारा उत्पन्न करता है।' हेसिओड मानते हैं कि 'काव्य का उद्देश्य शिक्षा देना या दैवी संदेश देना है।' ग्रीस की आदिम पौराणिक कथाएं काव्य का प्रयोजन प्राणियों को मध्य बनाना मानती हैं। गार्जियस ने भाषा शक्ति या शब्द की शक्ति के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा कि निर्बल और भावों को वहन करने में असमर्थ भाषा कवि के अभीष्ट को व्यंजित नहीं कर पाती और न ही पाठकों को प्रभावित कर सकती है। उनके अनुसार 'शब्द सशक्त शासक है।' प्लेटो ने अपनी पूर्व परंपरा के काव्य का अध्ययन किया और यत्र-तत्र उनका उल्लेख भी किया। होमर के प्रति उनके मन में आदर था। ऐसा होते हुए भी उन्होंने तत्कालीन काव्य और कवियों की निंदा की क्योंकि तत्कालीन समाज विकृत और पतनशील था। साहित्य, जो समाज को प्रभावित करने वाला सर्वाधिक सशक्त माध्यम है, वह उस योग्यता से वंचित था जो समाज का उत्थान कर सकती थी। इसलिए प्लेटो ने काव्य या कवि की नहीं बल्कि देखा जाए तो जिस प्रवृत्ति के अधीन होकर कवि जिस तरह का काव्य लिख रहे थे, उस प्रवृत्ति की निंदा की।

प्लेटो दार्शनिक होने के साथ सत्य का उपासक और तर्क का पक्षपाती था। उसने दर्शन की वेदी पर कवि-हृदय की बलि चढ़ाकर सत्य की रक्षा की। प्लेटो ने लिखा था कि 'कविता और दर्शन का झगड़ा पुराना है।' वह कविता को स्वत: प्रसूत भावोद्गार मानता है। कोई कवि गंभीर मननोपरांत काव्य रचना नहीं करता बल्कि अन्त:प्रेरणा से प्रेरित होकर लिखता है। इसलिए इस तरह के स्वत: प्रसूत भावोद्गारों की विश्वसनीयता पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए वह कवि और उसके सहज कवि कर्म को सत्य से भ्रमित करने वाला मानते हैं। कविता मूलत: मनोवेगों पर आधारित होती है जबकि दर्शन गंभीर तर्क और पर्यालोचन पर आधारित होता है। इसलिए कविता दर्शन का स्थान नहीं ले सकती, न ही राष्ट्र के उत्थान में सहायक हो सकती है। प्लेटो की इस मान्यता का कारण उसका आदर्शवादी सुधारक होना था। वह चाहता था उसके देश का हर नागरिक आदर्श नागरिक बने। उसके मतानुसार, 'मनुष्य के दो धर्म हैं बतौर विशिष्ट व्यक्ति उसे सत्य की प्राप्ति में संलग्न होना चाहिए और बतौर समाज के सदस्य उसे सदाचारी होना चाहिए। प्लेटो ने अपने कलागत सिद्धांत दर्शनशास्त्र के दृष्टिकोण से प्रस्तुत किए। उसके विचारशील मस्तिष्क को यह बात चुनौती लगती थी कि कवि चिरंतन सत्य के शोधक और प्रतिष्ठाता होते हैं। वह अंधी अनुगामिता को नापसंद करता था। प्लेटो कविता को उसी सीमा तक ग्राह्य मानता था जिस सीमा तक वह मानव, समाज एवं देश के उत्थान के लिए हितकारी हो। इसलिए प्लेटो नहीं चाहता था कि कविता में देवताओं को कुटिल, पापी, षड्यंत्रकारी, लालची, व्यभिचारी आदि दिखाया जाए जैसा कि तुलसीदास ने लिखा **'ऊंच निवास नीच करतूती'**। इससे पाठक पर बुरा प्रभाव पड़ने का भय था। वे दर्शन को नवीन युग के लिए हितकारी मानते थे।

प्लेटो को केवल बौद्धिक आनंद स्वीकार था, ऐंद्रिय आनंद नहीं। अत: इंद्रियों से संबंधित काव्यजन्य आनंद उसके दर्शन से मेल न खाने के कारण उसके लिए अमान्य था।

प्लेटो से पूर्व कवि को उपदेशक, संत और मार्गदर्शक समझा जाता था। होमर के संबंध में लोगों का मत था कि "वह महान कवि होने के कारण अच्छा शिक्षक है। वह सर्व कला विशेषज्ञ है। मानव की अच्छाइयों-बुराइयों को जानता है। वह दैवीय तत्वों से अभिज्ञ है। अतः उसके अनुरूप अपना जीवन ढालने के लिए उसकी उपयोगी शिक्षा को बार-बार पढ़ना चाहिए। प्लेटो इससे असहमत था और जनता के दृष्टिकोण को स्वस्थ नहीं मानता था।"

प्लेटो का मत था कि 'उसके समय की कविता मनोरंजन के लिए लिखी जाती थी और ग्रीक लोगों के अस्वस्थ मनोवेगों को उभारती थी।' प्लेटो के अनुसार "सत्य वह है जिसमें समाज और व्यक्ति के नैतिक और आध्यात्मिक जीवन को बल मिले। इसके विपरीत जो कुछ भी हो उसे वह असत्य मानते हुए काव्य को भी इसी कसौटी पर कसकर देखता था।" इस 'सत्य' के सिद्धांत को स्पष्ट करने के लिए उसने उदाहरण दिया कि "जब कभी कई प्राणियों या वस्तुओं की एक सामान्य संज्ञा होती है, तो हम कल्पना कर लेते हैं कि उनका एक सामान्य आदर्श (Idea) या रूप (Form) होगा।" प्लेटो कहता है कि ईश्वर ऐसे ही सामान्य आदर्श का कर्ता है, न कि विशेष आदर्श का। यही सामान्य आदर्श सत्य है। संपूर्ण विश्व में व्याप्त सौंदर्य, शिवत्व, सत्य एवं आनंद का आदर्श एक है। वे सामान्य सत्य को ही सच्चा सत्य मानते हैं। उसकी दृष्टि में विशिष्ट सत्य विश्वजनीन (Universal) सत्य की छाया मात्र है। इसके लिए उन्होंने 'पलंग' का उदाहरण दिया 'ईश्वर केवल एक पलंग की रचना करता है, वह पलंग आदर्श होता है। शेष जितने पलंग होते हैं वे सब आदर्श पलंग जिसमें मात्र सत्य निवास करता है, की नकल होते हैं इसलिए असत्य हैं।'

3.3.1 काव्य सिद्धांत

प्लेटो का काव्य-संबंधी मत यह भी था कि "जीवन में जो कुछ उदात्त और वांछनीय है, काव्य में उसके विपरीत है अर्थात काव्य अनुदात्त और अवांछनीय है।" उदाहरण के तौर पर होमर के काव्य में नायक को रोते और छाती पीटते दिखाया गया है। जीवन में हम इसे अवांछनीय मानते हैं और हमारा विवेक ऐसा करने की सम्मति नहीं देता लेकिन काव्य में यह सब पढ़कर हमें आनंद आता है। इसलिए उसने कहा 'काव्य का सत्य वास्तविक सत्य नहीं होता।' प्लेटो की दृष्टि में कविता का सत्य वास्तविक सत्य इसलिए नहीं है क्योंकि वह कविता को अज्ञान से उत्पन्न मानता था। उसका मत था कि कवि जिस वस्तु का अनुकरण करता है उसकी मूल प्रकृति से परिचित नहीं होता जैसे पलंग का चित्र बनाने वाला चित्रकार उस मूल पलंग की प्रकृति से न तो पूर्ण परिचित होता है, न उसका स्वरूप ही सच्चाई से अंकित कर पाता है। इसलिए उसका अनुकरण अज्ञान-जन्य होता है और उसका सत्य भ्रामक।

प्लेटो का मत था कि कवि यश और कीर्ति पाने के लिए पाठकों या श्रोताओं की वासनाओं को उत्तेजित कर लोकप्रियता प्राप्त करता है। वह आवेगपूर्ण और उन्मादग्रस्त प्रकृति का ही चित्रण करता है क्योंकि यह अनुकरण सरल और पाठकों को प्रिय होता है। अर्थात कवि का प्रयोजन आत्मा के विवेकपूर्ण अंश को प्रसन्न करना नहीं बल्कि पाठक को प्रसन्न करना है। ट्रेजिडी के संबंध में प्लेटो का कथन है कि "ट्रेजडी का कवि हमारे विवेक को नष्ट कर हमारी वासनाओं को जाग्रत करता है, उनका पोषण करता है और उन्हें

पुष्ट करता है।" काव्य के इसी हानिकारक प्रभाव के कारण वे काव्य सत्य को वास्तविक सत्य नहीं मानते। प्लेटो को जनता की रुचि पर विश्वास नहीं था। उन्होंने लिखा "मनोरंजन का अर्थ हर किसी का मनोरंजन नहीं है, सर्वोत्कृष्ट संगीत वह है जो सर्वोच्च शिक्षित व्यक्तियों को प्रसन्नता प्रदान करे और विशेषत: उस एक व्यक्ति को जो शिक्षा तथा गुणों में सर्वप्रमुख हो। यही बात साहित्य और काव्य पर भी लागू होती थी। प्लेटो के लिए 'साहित्य में आनंद प्रमुख तत्व नहीं था। उसके लिए ऐंद्रियता से, कालुष्य से रहित बुद्धि का आनंद ही एकमात्र ग्राह्य आनंद था।'

3.3.2 सत्काव्य के गुण

प्लेटो के लिए न्याय का सिद्धांत प्रमुख था। इस एक सिद्धांत का पालन करने वाले काव्य को सरलता पर वह बल देता था। काव्य में उद्देश्य की एकता, अन्विति तथा लयात्मकता को महत्व देता था। उसकी निश्चित धारणा थी कि काव्य धार्मिक तथा नैतिक होना चाहिए। जिसमें देवताओं तथा वीरों के सद्गुणों जैसे सच्चाई, शील, दृढ़ता आदि को ही चित्रित किया जाए ताकि इससे समाज का उत्थान हो। इस दृष्टि से उसने साहित्य के दो भेद किए सत्साहित्य और असत्साहित्य।

दार्शनिक होने के कारण प्लेटो ने सदैव तर्क और बौद्धिकता को बल दिया तथा कल्पना तत्व का तिरस्कार किया। उसका मानना था कि कल्पना के द्वारा कवि झूठे बिंब और चित्र प्रस्तुत करता है जिससे बाह्य तृप्ति तो मिल सकती है पर आत्मा परिष्कृत एवं उदात्त नहीं हो सकती।

प्लेटो ने कला को कला की दृष्टि से न देखकर समाज कल्याण की दृष्टि से परखा। अत: कला में 'सुन्दर' से अधिक 'शिव' पर बल दिया जो सौंदर्यशास्त्री की दृष्टि नहीं बल्कि दार्शनिक की दृष्टि है।

प्लेटो की देन

प्लेटो की हर बात से सहमत न होते हुए भी कई बातें चिंतन-मनन के लिए प्रेरित करती हैं। कला में अनुकरण और आनंद की बात सर्वप्रथम प्लेटो ने की। प्लेटो ने प्रथमत: यह बताया कि कलाएं परस्पर संबद्ध होते हुए भी भिन्न होती हैं। इसीलिए उन्हें दो भागों में बांटा गया है–1. ललितकलाएं, 2. उपयोगी कलाएं। कलाओं में आदर्श की, न्याय, सौंदर्य और सत्य की प्रतिष्ठा भी प्लेटो ने की। उसके काव्य प्रेरणा से संबंधित विचारों में मौलिकता थी। उसने विक्षिप्तता के दो भेद बताए–एक तो शारीरिक दुर्बलता से उत्पन्न और दूसरा वह, जिसमें आत्मा रीति-रिवाज तथा परंपराओं के बंधन से मुक्त हो जाती है। यानी Poetic inspiration तर्क की शक्ति से परे की बातें। वह चिंतन को कला साधना का आवश्यक अंग मानता है तथा कला-शिल्प से परिचित होना वांछनीय बताता है। काव्य हेतुओं के अंतर्गत-प्राकृतिक शक्ति, कला के नियमों का ज्ञान, मनोविज्ञान का परिचय, अध्ययन और शिक्षण को महत्व देता है। कृति में आंगिक एकता (organic unity) के सिद्धांत का प्रथम प्रतिष्ठाता प्लेटो है। विरेचन सिद्धांत के संकेत तथा भाषण कला संबंधित सुझाव भी उसने दिए।

साहित्य में काव्यगत न्याय के सिद्धांत की प्रतिष्ठा प्लेटो ने की। प्लेटो की दृष्टि में कला या काव्य का प्रथम एवं प्रधान कार्य प्रभावित करना है, उपदेश देना नहीं। वह 'कला

जीवन के लिए' सिद्धांत से उतना ही दूर है जितना 'कला कला के लिए' सिद्धांत से। उसका मत है कि 'मानव चरित्र में जो कुछ उदात्त एवं महान है वही काव्य का विषय बने, काव्य का सत्य सार्वभौम एवं सार्वकालिक होना चाहिए।'

प्रथम आचार्य होने के कारण प्लेटो का ऐतिहासिक महत्व है। उसने परवर्ती आचार्यों के लिए पथ प्रशस्त किया। उन्हें चिंतन की सामग्री दी। कहीं वे कवि की तरह तर्क करते हैं, कहीं दार्शनिक की तरह वकालत करते हैं। अतः मतों में एकाध स्थान पर विरोधभास पाया जाता है जो स्वाभाविक लगता है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में उनका योगदान अमूल्य है।

3.4 अरस्तू

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में अरस्तू का महत्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने विरेचन सिद्धांत, अनुकरण सिद्धांत तथा त्रासदी का सिद्धांत दिया। प्लेटो का शिष्य होने के नाते उन्होंने अपने गुरु द्वारा सुझाए अनुकरण शब्द की व्याख्या और विकास कर पाश्चात्य काव्यशास्त्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया। अरस्तू ने ही विरेचन का सिद्धांत प्रस्तुत किया। त्रासदी को नये संदर्भों में प्रस्तुत करने का श्रेय अरस्तू को है।

3.4.1 अनुकरण सिद्धांत

'अनुकरण' शब्द का प्रयोग प्लेटो ने किया था। उसके शिष्य अरस्तू ने इसे ग्रहण किया और कला को अनुकरणात्मक माना। परंतु काव्य को परखने की अरस्तू की दृष्टि सौंदर्यवादी है, वह काव्य को राजनीतिशास्त्र या नीतिशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में नहीं देखते। ग्रीक शब्द 'मिमीसिस' (Mimesis) का अंग्रेजी अनुवाद 'इमिटेशन'(Imitation) और हिंदी अनुवाद 'अनुकृति' अथवा 'अनुकरण' है। अरस्तू ने 'मिमीसिस' को प्लेटो से ग्रहण तो किया लेकिन उसको भिन्न अर्थ में प्रयुक्त किया। प्लेटो गणितज्ञ था। अतः विचार से वस्तु की ओर अग्रसर होता था। उसके लिए रेखा का आदर्श पहले होता है और रेखा बाद में जन्म लेती है और उत्तम रीति से खींचे जाने पर भी आदर्श रेखा नहीं बनती केवल उसका संकेत मात्र करती है। प्लेटो का विश्वास है कि ईश्वरजनित मूलादर्श (Idea) ही वास्तविक सत्ता है और मूलादर्शों का एक सूक्ष्म जगत है। यह स्थूल संसार उसी सूक्ष्म जगत का एक अपूर्ण अनुकरण है। प्लेटो ने वस्तु के तीन रूप बताए–आदर्श, वास्तविक और अनुकरणात्मक। पलंग के उदाहरण को लें तो ईश्वर द्वारा निर्मित पलंग आदर्श, बढ़ई द्वारा निर्मित पलंग वास्तविक तथा चित्रकार द्वारा चित्रित पलंग अनुकरणात्मक हुआ। इसमें प्रथम ही श्रेष्ठ है। अनुकर्ता छायाभासों या बिम्बों का निर्माण करता है। प्लेटो की अनुकरण संबंधी अन्य धारणाएं हैं कि–

1. कला और अनुकरण का घनिष्ठ संबंध है, अनुकरण कला का आधार है,
2. कलाकार मूलादर्श का अनुकरण नहीं कर सकता, अतः उसकी कृति सत्य से परे होती है,
3. कला तभी उत्कृष्ट हो सकती है जब वह सत्य एवं शुभ से युक्त वस्तु का अनुकरण करे, साथ ही अनुकरण सत्य के निकट हो,

4. अनुकरण गंभीर कार्य न होकर मनोरंजन से संबद्ध है,

5. अनुकरण में कई खतरे है, जैसे- अज्ञान, भ्रांति एवं असावधानी।

अरस्तू ने काव्य को सौंदर्यशास्त्री की दृष्टि से देखकर उसे दर्शन, नीति, राजनीति की बेड़ियों से मुक्त किया। उसने प्रत्येक कलाकृति को सौंदर्य की वस्तु माना। अग्नू कला को प्रकृति की अनुकृति मानते हैं। यहां प्रकृति से उनका अभिप्राय केवल प्रकृति या सृष्टि के बाह्य, स्थूल, गोचर रूप से ही नहीं बल्कि इनके साथ आंतरिक रूप काम, क्रोध, कल्पना आदि से भी है। अरस्तू अनुकरण का अर्थ हूबहू नकल करना नहीं मानते। उनका मत है कि 'अनुकृति की प्रक्रिया में प्रकृति के अनेक दोष और प्रभाव कला द्वारा पूरे कर दिए जाते हैं। अरस्तू का तर्क है कि यदि कविता प्रकृति का केवल दर्पण होती तो वह हमें उतना ही देती जितना प्रकृति देती है। उससे अधिक नहीं। जबकि कविता का रसास्वादन करते हुए हम आनंद के सरोवर में इसलिए गोते लगाते हैं कि वह हमें वह तत्व देती है जो प्रकृति नहीं दे सकी। मैथिलीशरण गुप्त (हिंदी कवि) कहते हैं 'जो अपूर्ण है कला उसी की पूर्ति है।' यही बात अरस्तू स्वीकार करते हैं और प्रकृति को केवल प्रेरक मानते हैं।

अरस्तू मानते हैं कि कलाकार अपनी संवेदना, अनुभूति, कल्पना और आदर्श आदि के प्रयोग से अपूर्ण को पूर्ण बना सकता है। उसका अनुकरण भावनामय होता है। अनुकार्य के संबंध में अरस्तू का मत है कि वह इन तीन प्रकार की वस्तुओं में से कोई एक हो सकती है–1. जैसी वे थीं या हैं, 2. जैसी वे कही या समझी जाती है, 3. जैसी वे होनी चाहिए। स्पष्ट है कि अरस्तू काव्य का विषय प्रकृति के प्रतीयमान, संभाव्य तथा आदर्श रूप को मानते हैं। वे मानते हैं कि सभी प्रकार के अनुकरण में निश्चित रूप से कलाकार की भावना और कल्पना का योगदान रहता है। प्रतीयमान रूप का अनुकरण करते हुए वह उसका वैसा ही चित्र अंकित करेगा जैसा कि उसने अनुभव किया और जैसा उसके मन पर प्रतिबिंबित हुआ। इस प्रक्रिया में भाव-तत्व का समावेश हो जाता है और जब वह इन भावों को शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त करेगा तब कल्पनातत्व का समावेश हो जाना स्वाभाविक है। संभाव्य रूप में तो वह कल्पनाशक्ति से मन में स्थिर संभाव्य रूप को ही चित्रित करेगा। आदर्श रूप में वह अपनी रुचि, इच्छा एवं आदर्शों के अनुरूप चित्र अंकित करेगा। यहां भी इच्छा और विचार से पोषित कल्पना का समावेश होगा। अतः कहा जा सकता है कि अरस्तू का अनुकरण शुद्ध प्रतिकृति को आधार मानकर नहीं चलता बल्कि भावना एवं कल्पना को समावेशित करके चलता है।

अरस्तू अनुकरण के संबंध में तीसरी बात यह कहते हैं कि 'कविता इतिहास की अपेक्षा अधिक दार्शनिक तथा उच्चतर वस्तु होती है। कवि और इतिहासकार में वास्तविक भेद यह है कि एक घटित हो चुके का वर्णन करता है और दूसरा वह वर्णित करता है जो घटित हो सकता है। काव्य सामान्य की अभिव्यक्ति है और इतिहास विशेष की। इस कथन में अरस्तू ने इतिहास के सत्य को मूर्त और सीमित बताया है जबकि काव्य का विषय संभावित है। अतः सत्य व्यापक है और विषय अमूर्त है। मूर्त वस्तुपरक होता है। अमूर्त का चित्रण कल्पना, अनुभूति तथा विचार पर आश्रित होता है। अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि अनुकरण से अभिप्राय भावपरक अनुकरण से है।

अरस्तू स्पष्ट कहते हैं कि– "कवि वस्तुओं को यथास्थित रूप में नहीं बल्कि उपयुक्त रूप में प्रस्तुत करता है। कलाकार का कर्तव्य है कि वह मूल वस्तु में स्थित प्राकृतिक उपयुक्तता तथा सत्य को ही प्रेषित न करे बल्कि अपने कला-माध्यम के अनुरूप आवश्यक और संभावित का भी प्रेषण करे। जैसे जब कोई मनुष्य अपने शत्रु को मारता है तो कवि उसके कृत्य का वर्णन करने के साथ-साथ, मारने के कारण, परिस्थिति, आवश्यकता और मारने वाले के चरित्र का विकास भी दिखाता है।"

अरस्तू के अनुसार, महाकाव्य, करुण साहित्य, गीतिकाव्य, मुरली बजाना, वीणा बजाना आदि सभी अनुकरण की रीतियां हैं। जो वस्तु, साधन और रीति तीन प्रकारों से पृथक अनुकरण है। काव्य में अनुकरण की वस्तु हैं। 'प्राणी के कार्य' अर्थात कार्य के साथ भाव, विचार, चरित्र जिनके आधार पर कार्य का जन्म होता है। स्वभाव एवं संवेदना के आधार पर मनुष्य अच्छा या बुरा हो सकता है। तीसरी कोटि की बात अरस्तू नहीं कहते। अरस्तू काव्य में प्रकृति के अंधानुकरण के विरुद्ध थे। अंधानुकरण में जो जैसा है वैसा ही चित्रित होगा, अच्छा या बुरा नहीं। अच्छा या बुरा दर्शाने के लिए कल्पनातत्व आवश्यक है। अनुकरण से अरस्तू का अभिप्राय 'कल्पनात्मक पुनःसृजन' से है, जिसमें आवश्यक बढ़ाया जा सकता है और अनावश्यक छोड़ा जा सकता है। अनुकरण में कवि अपनी भावना और आदर्श को अभिव्यक्ति देता है। जिसमें अन्विति के नियमानुसार कथावस्तु चुनकर उसे कलात्मक सौंदर्य प्रदान करता है।

अरस्तू मानते हैं कि महाकाव्य, त्रासदी, रौद्रस्रोत, प्रशस्तिगान में अनुकरण की वस्तु उत्तम जीवन होती है। उत्तम से उनका अभिप्राय 'गंभीर' से है। ऐसा पात्र चुना जाए जो हमारा ध्यान आकृष्ट कर हमें चिंतन के लिए बाध्य करे। अरस्तू का कथन है कि अनुकृत वस्तु से प्राप्त आनंद भी सार्वभौम होता है। अनुकरण में आत्म-तत्व का प्रकाशन अनिवार्य है। आत्माभिव्यंजन आवश्यक है। आनंद की स्थिति में ही आनंद का संप्रेषण होता है। अरस्तू के इस 'भावनापूर्ण अनुकरण' में सुंदरता, आदर्श, कल्पना, समष्टिगत सत्य सभी कुछ होगा। अनेक आचार्यों ने इससे सहमति दर्शाई है और कुछ दोष भी गिनाए हैं–

1. वे वस्तु को आधार रूप मानते हैं। व्यक्तिपरक भावतत्व से अधिक महत्व वस्तुपरक भाव तत्व को देना अनुचित है।
2. इसमें संकुचित परिधि है क्योंकि कवि की अंतश्चेतना को उतना महत्व नहीं दिया गया जितना दिया जाना चाहिए।
3. विश्व का गीतिकाव्य सर्वाधिक मात्रा में होने के कारण इसकी परिधि में नहीं समा सकता। अरस्तू ने गीतिकाव्य का गंभीर मनन, विवेचन नहीं किया।
4. क्रोचे के अनुसार कला-सृजन कोई महत्वपूर्ण वस्तु नहीं जबकि अरस्तू अनुकरण को ही कला कहते हैं।
5. अरस्तू ने जो 'मिमीसिस' या 'इमिटेशन' शब्द चुना वह अनुपयुक्त है। इसकी अर्थ परिधि में 'कल्पनात्मक पुनःसृजन', 'सर्जना के आनंद की अवस्थिति' या 'पुनःसृजन' आदि अर्थों का अंतर्भाव नहीं हो सकता।

अरस्तू का 'अनुकरण सिद्धांत' महत्वपूर्ण है। व्यापक है। अन्य कवि एवं आचार्यों ने भी इसका प्रयोग किया है। होरेस कविता को जीवन का अनुकरण मानता था। विडा नामक

आलोचक कवियों को प्रकृति का अनुकरण करने की सलाह देता था। बैन जानसन ने दृढ़तापूर्वक शास्त्रीय अनुकरण को कलात्मक रचना का मूलस्रोत माना। वर्तमान में अनुकरण सिद्धांत प्रकृतिवाद, यथार्थवाद और अतियथार्थवाद के रूप में देखा जाता है।

3.4.2 अरस्तू का विरेचन सिद्धांत

अरस्तू यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो के शिष्य थे। वे मैकेडोनियन धारा के परम विद्वान, विवेकवान, सूक्ष्मद्रष्टा, अध्यापक तथा काव्यशास्त्री थे। उनकी विद्वता एवं प्रतिभा ने युगों तक यूरोप के चिंतकों, मनीषियों, कवियों को प्रभावित और प्रेरित किया। अरस्तू ने अपने गुरु प्लेटो के जीवनकाल में ही उनके आक्षेपों का दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया। 'विरेचन सिद्धांत' का जन्म भी ऐसे ही एक उत्तर के रूप में हुआ। प्लेटो का कला संबंधी चिंतन नीतिशास्त्र पर आधारित था। उन्होंने कहा कि 'कविता अनुकरण का अनुकरण है, सत्य से दुगुनी दूरी पर है, अत: त्याज्य है।' इसी तरह उन्होंने कहा कि 'त्रासदी का नायक अपनी आपदाओं और कष्टों पर रुदन-विलाप कर दर्शकों के भावों को उद्दीप्त करता है। वास्तविक जीवन में हम अपने कष्टों पर रोने वाले व्यक्ति को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते।' अरस्तू का कला संबंधी मत सौंदर्य-शास्त्र पर आधारित था। अत: उन्होंने प्लेटो के सिद्धांत का विरोध करते हुए 'भावों के विरेचन' की बात कही।

विरेचन का अर्थ

अरस्तू द्वारा प्रयुक्त मूल शब्द Katharsis है। हिंदी में इसका अनुवाद 'रेचन', 'विरेचन' तथा 'परिष्करण' शब्दों द्वारा किया गया है। जिस प्रकार Katharsis शब्द यूनानी चिकित्सापद्धति से संबंधित है उसी प्रकार 'विरेचन' शब्द भारतीय आयुर्वेदिक शास्त्र से संबंधित है। वैद्य के पुत्र होने के कारण अरस्तू ने वैद्यक शास्त्र से यह शब्द ग्रहण किया और 'काव्य-शास्त्र' में उसका लाक्षणिक प्रयोग किया। चिकित्साशास्त्र में इसका अर्थ है "रेचक औषधियों द्वारा शरीर के मल या अनावश्यक एवं अस्वास्थ्यकर पदार्थ का निकालना।" यूनान में रेचक औषधियों का प्रयोग सर्वप्रथम हिपोक्रिटीज ने किया था। होम्योपैथी में किसी संवेग की चिकित्सा 'समान' संवेग के द्वारा की जाती है। अम्ल के लिए अम्लता का और लवण-द्रव्य को दूर करने के लिए लवण का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार अरस्तू का मत है कि "त्रासदी करुणा तथा त्रास के कृत्रिम उद्रेक द्वारा मानव के वास्तविक जीवन की करुणा और त्रास भावनाओं का निष्कासन करती है।" अरस्तू के लिए यह विचार नया नहीं था साथ ही प्लेटो स्वयं जानता था कि विकृत उत्साह की चिकित्सा उद्दाम संगीत द्वारा संभव है। उसने Laws में स्पष्ट लिखा है कि Movement was applied to cure movement और इसका उदाहरण देते हुए इसे स्पष्ट किया है कि– "स्त्रियां शिशुओं को गाकर और उनको गोदी या पालने में हिला-डुलाकर सुलाती हैं न कि चुपचाप रहकर।"

विरेचन सिद्धांत का उल्लेख

अरस्तू ने अपने किसी भी ग्रंथ में 'विरेचन सिद्धांत' या उसकी व्याख्या नहीं दी। केवल दो स्थानों पर उन्होंने इस शब्द का प्रयोग किया है। 'पोएटिक्स' में त्रासदी की परिभाषा तथा उसका स्वरूप निश्चित करते हुए वे लिखते हैं "त्रासदी किसी गंभीर, स्वत:पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न रूपों में प्रयुक्त

सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है। जो समाख्यान रूप में न होकर कार्य-व्यापार रूप में होती है और जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।" यहां अरस्तू प्लेटो के आक्षेप का उत्तर देने के साथ यह भी स्पष्ट करते हैं कि त्रासदी के मूलभाव त्रास और करुणा होते हैं और इन भावों को उद्‌बुद्ध कर के या जाग्रत कर के विरेचन पद्धति से मानव-मन का परिष्कार किया जाता है। यही त्रासदी का मुख्य उद्देश्य है। राजनीतिशास्त्र में 'विरेचन' शब्द का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं 'हमारा यह मत है कि संगीत का अध्ययन एक नहीं वरन अनेक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए होना चाहिए।' 1. शिक्षा के लिए, 2. विरेचन (शुद्धि) के लिए, 3. बौद्धिक आनंद की उपलब्धि के लिए। धार्मिक रागों के प्रभाव से जो रहस्यात्मक, आध्यात्मिक परिवेश निर्मित होता है, उसमें हाल की दशा वाले, संवेदनशील, भावुक व्यक्तियों के भीतर जो आवेश जाग्रत होता है, उससे उनकी आत्मा व्यापक और शांत हो जाती है। विरेचक राग मानव समाज को निर्दोष आनंद प्रदान करते हैं। यहां 'विरेचन' से तात्पर्य 'शुद्धि' से है।

विरेचन की व्याख्या

अरस्तू के परवर्ती व्याख्याकारों ने लक्षणा के आधार पर 'विरेचन' के तीन अर्थ किए– 1. धर्मपरक, 2. नीतिपरक, 3. कला परक।

1. **धर्मपरक अर्थ–** भारत की तरह यूनान में भी धार्मिक उत्सव मनाए जाते थे और देवी-देवताओं के सामने नृत्य-संगीत, प्रार्थना के द्वारा यह विनती की जाती थी कि आपदाएं, पाप, अत्याचार आदि दूर हों तथा जनता और समाज शुद्ध-बुद्ध हो। इसी के आधार पर माना जाता है कि अरस्तू ने धार्मिक आधार पर 'विरेचन' का लाक्षणिक प्रयोग किया। **प्रो. मरे** ने इसकी व्याख्या की। जिसका अर्थ था 'बाह्य उत्तेजना और अंत में उसके शमन द्वारा आत्मिक शुद्धि और शांति।'
2. **नीतिपरक अर्थ–** 'विरेचन सिद्धांत' की व्याख्या करते हुए जर्मन विद्वान **बारनेज** ने कहा कि "मानव मन में अनेक मनोविकार वासना के रूप में स्थित रहते हैं। इनमें करुणा एवं त्रास नामक दुखद भाव मूलक मनोविकार है। त्रासदी रंगमंच पर जब इन मनोविकारों को अतिरंजित रूप में प्रस्तुत करती है तो मानव मन में स्थित करुणा एवं त्रास का उद्वेलन होने लगता है। वह उद्वेलित होते हुए भारी त्रास से गुजरता हुआ अंततः सुख और शांति का अनुभव करने लगता है। स्वस्थ अनुभव करता है। अतः यहां विरेचन का नीतिपरक अर्थ हुआ– 'मनोविकारों के उत्तेजन के बाद उद्वेग का शमन और तज्जन्य मानसिक विशदता'।"
3. **कला-परक अर्थ–** प्रो. बूचर का मत है कि "यह (विरेचन) केवल मनोविज्ञान अथवा निदान-शास्त्र के एक तथ्य विशेष का वाचक न होकर, एक कला सिद्धांत का अभिव्यंजक है। त्रासदी का कर्तव्य कर्म केवल करुणा या त्रास के लिए अभिव्यक्ति का माध्यम प्रस्तुत करना नहीं है, अपितु इन्हें एक सुनिश्चित कलात्मक परितोष प्रदान करना भी है, इनको कला के माध्यम में ढालकर परिष्कृत तथा स्पष्ट करना है।" अर्थात 'विरेचन' का अर्थ है 'पहले मानसिक संतुलन और बाद में कलात्मक परिष्कार।'

इसीलिए अरस्तू ने कथावस्तु को घटनाओं का विन्यास कहा। त्रासदी में कार्य व्यापार का अनुकरण किया जाता है और यह अनुकरण दृष्टि विधान के माध्यम से ही होता है। जिस कार्य व्यापार का अनुकरण किया जाता है उसके कर्ता का चरित्र और विचार तत्व भी इस अनुकरण के माध्यम से उद्घाटित होता चलता है। इसीलिए कथावस्तु में चरित्र और विचार नामक दो और अंग भी समाविष्ट हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त नाटकीय प्रयोजन भी कार्य व्यापार के रूप में ही उपस्थित होता है कर्ता के किसी चारित्रिक गुण के रूप में नहीं। यही कारण है कि यूनानी नाटकों में कथावस्तु को ही सर्वाधिक महत्व दिया गया है। नाटकीय कार्य व्यापार का उद्देश्य चरित्रों का प्रतिरूपण करना ही नहीं है क्योंकि चरित्रों का स्थान गौण है प्रमुखता सुनियोजित घटनाओं को दी जाती है। इसका कारण यह है कि चरित्र भी कार्य व्यापार के माध्यम से ही व्यक्त होता है। इस प्रकार जीवन का विस्तार और व्यक्ति के सुख-दुख उसके कार्यों पर ही निर्भर करते हैं और कथावस्तु के रूप में ही सामने आते हैं। चरित्र से उनका सीधा संबंध नहीं होता। इसीलिए अरस्तू ने कार्य व्यापार को त्रासदी की आत्मा या उसका साध्य कहा है और चरित्र-चित्रण का गौण महत्व दिया है। यद्यपि कार्य व्यापार बिना त्रासदी की रचना नहीं हो सकती। जबकि चरित्र-चित्रण के अभाव में ही यह संभव है। इसके अतिरिक्त जिस सघन कारूणिक प्रभाव की सिद्धि त्रासदी का प्रयोजन है वह चरित्र के माध्यम से उत्पन्न नहीं होती। प्रभाव भी वास्तव में कार्य व्यापार और उसके कलात्मक संयोजन के माध्यम से उत्पन्न किया जा सकता है।

लेकिन बाद में त्रासदी की मध्यकालीन यूरोपीय अवधारणा यूनानी त्रासदी की अवधारणा से भिन्न हो गयी और मध्यकाल में कथावस्तु अथवा कार्य व्यापार की अपेक्षा चरित्र को अधिक महत्व दिया जाने लगा। 16वीं शताब्दी के अंग्रेजी नाटककार शेक्सपियर तथा अन्य नाटककारों जैसे-गेटे, गिब्सन ने त्रासदी में चरित्र को ही सर्वोपरि स्थान दिया। चरित्र की अभिव्यक्ति यहां भी कार्य व्यापार के माध्यम से ही होती है लेकिन बल यहां कार्य पर नहीं बल्कि चरित्र पर दिया जाने लगा और यही दृष्टियों के अंतर का आधार बना।

अरस्तू ने कथावस्तु की रचना के लिए और उसके लिए सामग्री के ग्रहण के संबंध में तीन प्रधान स्रोत माने हैं- (1) दंत कथाएं, (2) इतिहास कल्पना। नाटककार कल्पित घटना को भी अपनी कथावस्तु की रचना का आधार बना सकता है लेकिन यहां भी उसे संभाव्यता तथा विश्वसनीयता का ध्यान रखना होगा। (3) कथानक का आयाम– अरस्तू के अनुसार कथानक के आयाम का विशेष महत्व है क्योंकि यह कथानक को संगठित करता है। आयाम का अर्थ है ऐसा विस्तार जो सरलता से याद किया जा सके। अर्थात वह न तो इतना सूक्ष्म हो कि दर्शक के मन में उसका कोई स्वरूप ही स्पष्ट न हो सके और न इतना विस्तृत हो कि दर्शक उसे समग्र रूप में ग्रहण ही न कर सके। अरस्तू ने कथावस्तु के छः गुणों का उल्लेख किया है जिनमें अन्विति के अतिरिक्त पूर्णता का भी विशेष महत्व है। त्रासदी का कथानक अपने आप में पूर्ण होना चाहिए क्योंकि त्रासदी ऐसे कार्य की अनुकृति है, जो संपूर्ण पूर्णता का अर्थ है– ऐसा कथानक जो नाटकीय विधान में पूर्णतः घटित हो सके, उसे किसी अन्य तत्व की आवश्यकता न पड़े तथा जिसमें समुचित विस्तार भी हो। समुचित विस्तार का अर्थ है कि उसमें आदि, मध्य और अवसान तीनों स्थितियां विद्यमान हों। आदि का अर्थ है कथावस्तु का वह भाग जो किसी का परिणाम या हेतु नहीं होता लेकिन जिसके बाद कुछ

घटित अवश्य होता रहता है। मध्यम वह भाग है जो स्वयं किसी घटना का अनुगमन करता है तथा घटनाएं उसका अनुगमन करती हैं और यह वह बिंदु है जो पूर्ववर्ती घटनाओं को चरम बिंदु तक पहुंचाता है। अवसान का अर्थ है वह भाग जो अन्य पूर्ववर्ती घटनाओं का अनुवर्ती होता है और जिसके बाद नाटक में दर्शक के लिए कोई संभावना शेष नहीं रहती। उसकी समस्त जिज्ञासाओं का समाधान हो जाता है।

संभाव्यता– इसका अर्थ है मानवीय जीवन और आचरण की अनंत संभावनाओं के अनुसार कथानक में कार्य व्यापार का संयोजना।

सहज विकास– कथानक के विविध अंगों को इस प्रकार संयोजित करना कि नाटकीय वस्तु का विकास सहज और स्वाभाविक रूप में हो सके किंतु कथानक के विविध अंग जैसे- संवृत्ति, विवृत्ति आदि का कथावस्तु के साथ समुचित संबंध स्थापित हो सकेगा।

कुतूहल– कथानक ऐसा होना चाहिए कि वह दर्शक के मन में बराबर कुतूहल बनाए रखे। इसके लिए घटनाओं का अचानक अप्रत्याशित रूप से उपस्थित होना अनिवार्य है। इसका आधार ही आकस्मिकता है। यदि घटनाक्रम का विकास सहज हो, घटनाओं में कार्य कारण की पूर्वापरता बनी रहे फिर भी घटना अचाकन उपस्थित हो जाए तो इस प्रकार की योजना सबसे अधिक गहरा कुतूहल उत्पन्न करती है।

साधारणीकरण– कथानक से व्यंजित अनुभव का दर्शकों तक पहुंचना अत्यंत आवश्यक है। इसके लिए नाटककार घटना विन्या को सार्वभौम रूप में प्रस्तुत करता है।

कथानक के रूप

अरस्तू के अनुसार कथानक के दो रूप हैं–सरल कथानक और जटिल कथानक। जिस नाटक में कार्य व्यापार एक ओर अविच्छिन्न हो, वह चरम घटना की ओर स्वत: ही विकसित होता है उसे सरल कथानक कहते हैं और जिसमें कार्य व्यापार चरम घटना की ओर स्वतंत्र रूप से विकसित नहीं होता अर्थात नायक के भाग्य परिवर्तन के लिए स्थिति विपर्यय, अभिज्ञान या दोनों का सहारा लेना पड़ता है वहां जटिल कथानक होता है। स्थिति विपर्यय का अर्थ है घटनाओं में उलटफेर या कार्य व्यापार में व्यतिक्रम परंतु यह उलटफेर भी आवश्यकता और संभाव्यता के नियम के अनुसार ही होना चाहिए। अरस्तू ने स्थिति विपर्यय के लिए पेरिपेतिआ (Peripeteia) शब्द का प्रयोग किया है। अरस्तू के व्याख्याकार बुचर के अनुसार पेरिपेतिआ का अर्थ है भाग्य विपर्यय और एटकिन्स के अनुसार इसका अर्थ है परिस्थिति की विषमता। सामान्यतया स्थिति विपर्यय के अंतर्गत घटनाओं की विषमता के माध्यम से दैवी शक्ति का मनुष्य पर विषम प्रभाव दिखाया जाता है और यह प्रभाव अप्रत्याशित होता है। अभिज्ञान का अर्थ है किसी अज्ञान की स्थिति का ज्ञान में परिणत होना। अरस्तू ने इसके लिए एनाग्नोरिसिस (Anagnorisis) शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार के प्रयोग से सत्य अथवा वस्तु का नाटकीय ढंग से रहस्योद्‌घाटन होता है और घटनाक्रम में एकाएक नाटकीय स्थिति पर प्रकाश पड़ जाता है। इसी को अज्ञान का ज्ञान में परिणत होना कहा गया है। इसके प्रयोग से कार्य की गति सहसा बदल जाती है। ये दोनों तत्व कथानक को जटिल बनाने के अतिरिक्त उसको रोचक और आकर्षक भी बनाते हैं।

कथानक के भाग

अरस्तू ने कथानक के दो भाग किये—संगृंति और विगृंति। संगृंति का अर्थ है उलझन। इसके अंतर्गत कथावस्तु का वह भाग आता है जिसका विस्तार कार्य व्यापार के प्रारंभ से नाटक से उत्कर्ष तक जाता है। नाटक के उत्कर्ष का अर्थ है उस नाटकीय परिस्थिति का उत्कर्ष जिसकी ओर नाटक की समस्त कार्य व्यापार अग्रसर करता है। विगृंति का अर्थ है पूर्ववर्ती उलझन को सुलझाना। इसका विस्तार नायक के उत्कर्ष बिंदु से अंत तक चलता है।

त्रासदी के विवेचन के क्रम में अरस्तू ने त्रासदी के लिए उसके मूल प्रयोजन की दृष्टि से कुछ अनुकूल और कुछ प्रतिकूल परिस्थितियों की कल्पना की है। अनुकूल परिस्थितियों में दो स्थितियां प्रमुख हैं जबकि प्रतिकूल परिस्थितियों में कुछ ऐसी परिस्थितियां हैं जिनमें त्रासदी के लक्ष्य की सिद्धि हो ही नहीं सकती। उदाहरण के लिए यदि किसी सर्वथा निर्दोष और सद्गुणी व्यक्ति को विपत्ति में पड़ा हुआ देखा जाएगा तो ऐसी स्थिति का चित्रण त्रासदी के लक्ष्य की सिद्धि नहीं कर सकेगा। इसके विपरीत यदि किसी दुष्ट पात्र को पतन से उत्कर्ष की ओर बढ़ते हुए दिखाया जाएगा तो यह स्थिति भी त्रासदी के प्रतिकूल होगी। क्योंकि यह नैतिक भावना के विरुद्ध है। इसके विपरीत किसी अत्यंत दुष्ट पात्र का पतन दिखाना भी त्रासदी के अनुकूल नहीं होगा क्योंकि उस दुष्ट पात्र के लिए दर्शक के मन में करुणा का भाव उत्पन्न करने वाला होता है। ऐसा चित्रण महिमाशाली व्यक्ति के अपने किसी दुर्गुण या पाप के कारण नहीं होता बल्कि किसी सूक्ष्म मानवीय कमजोरी या चूक या दोष के कारण वह दुर्भाग्य की स्थिति में पड़ जाता है। लेकिन कारुणिक परिस्थिति वहां विशेष प्रभावशाली होती है जहां घनिष्ठ आत्मीय संबंध के बीच कोई त्रासद घटना घटित हो जाए जैसे यदि कोई बेटा मां की या मां बेटे की संयोगवश हत्या कर दे तो वह त्रासद स्थिति अत्यधिक प्रभावोत्पादक हो जाती है।

(ख) चरित्र-चित्रण

त्रासदी के भागों में कार्य व्यापार के बाद सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग चरित्र-चित्रण है परंतु कथावस्तु के बाद ही इसका महत्व आता है। अरस्तू के अनुसार चारित्र्य वह है जिसके आधार पर अभिकर्ता में कुछ गुणों का आरोप किया जाता है। अरस्तू कहते हैं कि चरित्र सामान्यतया भद्र होना चाहिए और कर्ता के कार्य व्यापार से उसकी रुचि-विरुचि एवं उसके किसी नैतिक उद्देश्य की अभिव्यक्ति होती है। उद्देश्य श्रेष्ठ होने की स्थिति में चरित्र भी श्रेष्ठ होगा। भद्रता चरित्र का मूलाधार है। त्रासदी के मुख्य पात्र का भद्र होना अत्यंत आवश्यक है अन्यथा उसकी विपत्ति दर्शक के मन में सहानुभूति का उदय नहीं कर सकेगी। पात्रों का चरित्र-चित्रण उनके वास्तविक जीवन और परंपरागत धारणाओं के अनुकूल होना चाहिए। चरित्र में एकरूपता होनी चाहिए और यदि चरित्र में अनेकरूपता हो तो यह अनेकरूपता आदि से अंत तक एक जैसी रहनी चाहिए। चरित्र चित्रण में भी आवश्यकता और संभाव्यता के नियम का पालन होना चाहिए तथा आदर्श और यथार्थ का कलात्मक समन्वय भी होना चाहिए। इस संदर्भ में अरस्तू ने नायक के व्यक्तित्व और स्वरूप पर विशेष ध्यान दिया। त्रासदी का नायक खलपात्र नहीं होना चाहिए। वह सर्वथा निर्दोष अथवा सर्वथा सज्जन भी नहीं होना चाहिए। लेकिन वह अत्यंत वैभवशाली, यशस्वी और कुलीन हो सकता है। उसे सहज मानवीय भावनाओं से युक्त होना चाहिए लेकिन उसके चरित्र में कुछ

ऐसा होना चाहिए जिसके कारण वह सर्वथा निर्दोष न हो। उसके स्वभाव में कोई मानवीय कमजोरी या भूल करने की प्रवृत्ति अवश्य होनी चाहिए।

(ग) त्रासदी की भाषा

अरस्तू के अनुसार त्रासदी की भाषा समृद्ध और उदात्त हो परंतु बाह्याडंबर से मुक्त होना चाहिए। उसकी भाषा में अलंकृति, गरिमा और औचित्य का सहज समन्वय होना चाहिए तथा उसमें औचित्य भी बराबर विद्यमान रहना चाहिए। विषय-वस्तु और उद्देश्य के अनुरूप भाषा भी भव्य होनी चाहिए।

(घ) विचार-तत्व

इसका अर्थ है स्थिति विशेष में जो संभव और संगत हो उसके प्रतिपादन की क्षमता। यह वहां विद्यमान होता है जहां किसी वस्तु का भाव या अभाव सिद्ध किया जाता है या किसी सामान्य तत्व की व्यंजक सूक्ति का आख्यान किया जाता है।

(ङ) दृश्य-विधान

इसका अर्थ है रंगमंच के साधनों का कुशल प्रयोग। अरस्तू इसको त्रासदी का सबसे कम महत्व का और सबसे कम कलात्मक अंग मानते हैं। कारण ये है कि इसका विधान एक तो कवि की अपेक्षा मंचाशिल्पी की कला पर अधिक निर्भर करता है और इसके स्वतंत्र भी त्रासदी के प्रबल प्रभाव की अनुभूति की जा सकती है ऐसा अरस्तू मानते हैं।

(च) संगीत

पुरानी त्रासदी में विशेषकर यूनानी त्रासदी में गीत को एक प्रकार के अलंकरण के रूप में ग्रहण किया गया है, जिसका प्रयोग वृंदगान के अंतर्गत होता है परंतु अरस्तू ने इसको त्रासदी का अभिन्न अंग माना है। उसका अलंकरण मात्र नहीं।

3.5 लोंजाइनस का उदात्त तत्व

लोंजाइनस रोमांटिक आलोचना के आधार स्तंभ माने जाते हैं। लोंजाइनस की रचना 'पेरिइप्सुस' का यूनानी काव्यशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान है। 'पेरिइप्सुस' का अर्थ है–औदात्य, ऊंचाई। कई वर्षों तक विस्मृति के गर्भ में पड़े रहने के बाद 1554 ई. में इस ग्रंथ का प्रकाशन हुआ। इस पर लेखक का नाम था–'दिओन्युसिअस लोंगिनुस' जिसे अंग्रेजी में डाइनोसियस लोंजाइनस उच्चरित किया गया। 19वीं सदी के आरंभ तक लोंजाइनस ओर उसका ग्रंथ विवाद के घेरे में रहे। यह विवादग्रस्त था कि पेरिइप्सुस का रचयिता कौन सा लोंजाइनस है। लोंजाइनस दो थे–एक जेनोबिया के मंत्री लोंजाइनस, जो अपनी वीरता और विदग्धता के लिए इतिहास में प्रसिद्ध थे। उनका रचनाकाल तीसरी शताब्दी माना जाता है। उसने बड़ी निष्ठा से महारानी जेनोबिया की सेवा की, रेगिस्तान में 'पालम्यूरा' नगर बसाया और गिबन के अनुसार जिसने चुपचाप अपनी महारानी के लिए प्राणों का उत्सर्ग किया। दूसरा कोई अज्ञात यूनानी या रोमी लोंजाइनस था, जिसका रचनाकाल पहली शताब्दी था। बाद में यह मत स्थिर हो गया कि तीसरी शताब्दी वाला लोंजाइनस ही 'पेरिइप्सुस' का लेखक है। वह प्लेटो के भावुक दृष्टिकोण तथा प्रभविष्णु शैली से प्रभावित था।

लोंजाइनस ने प्लेटो के विपरीत काव्य के मोहक गुणों, उसकी वेद्यांतर विगलित करने की शक्ति, भावोत्कर्ष, दिव्य आनंदानुभूति को महत्वपूर्ण माना। लोंजाइनस अलंकार शास्त्री था। अतः व्याकरण शास्त्र, विश्लेषणात्मक आलोचना शास्त्र तथा निबंध- रचना शास्त्र पर उसकी गहरी एवं सूक्ष्म दृष्टि एवं पकड़ थी। वह शास्त्रानुकूल रचना पर बल देता था। लोंजाइनस काव्य के लिए भावोत्कर्ष को सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व मानता था। उसने सिद्धांत रूप में प्रस्तुत किया कि-"काव्य या साहित्य का उद्देश्य चरमोत्कर्ष प्रदान करना है तर्क द्वारा बाध्य करना नहीं।" पाठक या श्रोता को वेद्यांतर शून्य बनाना ही काव्य का उद्देश्य है। साहित्य कल्पना द्वारा पाठक को अभिभूत करता है। इसीलिए उसने 'इलियड' को 'ओडसी' से 'डिथोस्थनीज' को 'सिसरो' से श्रेष्ठ माना। क्योंकि इलियड में जीवंत आवेग, गहन अनुभूति, प्रचुरता, वेग, शक्ति और गति तथा यथार्थ बिंबविधान का ओडिसी की तुलना में आधिक्य था।

3.5.1 उदात्त की अवधारणा

लोंजाइनस 'अभ्यास' पर बल देता था। लोंजाइनस में स्वच्छंदता एवं अभिजात्यवाद दोनों के तत्व विद्यमान हैं। वह संतुलित दृष्टिकोण धारक समन्वयवादी विचारक एवं आलोचक था। उसने काव्य के अंतरंग एवं बहिरंग दोनों पक्षों में औदात्य का समर्थन किया है। लोंजाइनस कहते हैं-"विचार और पद-विन्यास अधिकतर एक दूसरे के आश्रय में विकसित होते हैं। सुंदर शब्द ही वास्तव में विचारों को विशेष प्रकार का आलोक प्रदान करते हैं।" अर्थात उत्तम काव्य या दिव्य कविता वही है जो आनंदातिरेक में हमें इतना सराबोर, निमग्न और तन्मय कर दे कि हम अपना सर्वस्व भूल कर, अपने आपसे विस्मृत होकर ऐसी उच्च भाव भूमि पर पहुंच जाएं जहां निरी बौद्धिकता पंगु हो जाती है और वर्ण्य विषय या कथ्य विद्युत्प्रकाश की तरह जगमगाने लगता है। ऐसे ही विचार 'काव्य प्रकाशकार' मम्मट के हैं। वे भी 'वेद्यांतर विगलित' की बात करते हैं।

3.5.2 उदात्त का स्वरूप

लोंजाइनस ने 'उदात्त' की कहीं भी सूत्र-बद्ध व्याख्या नहीं की। उन्होंने उदात्त के स्रोतों, औदात्य के बीच आने वाली बाधाओं, तथा उदात्त के प्रभाव को ही स्पष्ट किया है। लोंजाइनस की विवेचन पद्धति अरस्तू की तरह सूत्रबद्ध व्याख्या वाली नहीं है। वे विषय का विशद विवेचन करते हैं। उनकी दृष्टि व्यावहारिक तथा मनोवैज्ञानिक दोनों प्रकार की है। उन्होंने उदात्त के विवेचन में पांच तत्वों की चर्चा की। प्रथम महान धारणाओं की क्षमता या विषय की गरिमा और द्वितीय भावावेश की तीव्रता। ये दोनों तत्व जन्मजात होने के कारण अंतरंग पक्ष में आते हैं तथा शेष तीन-समुचित अलंकार योजना, उत्कृष्ट भाषा तथा गरिमामय रचना-विधान बहिरंग पक्ष में आते हैं। इन दोनों पक्षों के अतिरिक्त उदात्त विवेचन में तीसरा विरोधी तत्व वाला पक्ष भी होता है।

1. **अंतरंग तत्व-** उदात्त विचार या विषय की गरिमा--लोंजाइनस का मत है कि- "विषय में ज्वालामुखी के समान असाधारण शक्ति और वेग होना चाहिए तथा ईश्वर का सा ऐश्वर्य और वैभव भी। विषय ऐसा होना चाहिए जिसका पाठक तथा श्रोता पर उत्कट तथा स्थाई प्रभाव पड़े जिससे प्रभावित न होना कठिन ही नहीं लगभग

असंभव हो जाए और जिसकी स्मृति इतनी प्रबल और गहरी हो कि मिटाए न मिटे।" वे यह भी कहते हैं कि–"यह संभव नहीं है कि जीवन भर क्षुद्र उद्देश्यों और विचारों से ग्रस्त व्यक्ति कोई स्तुत्य एवं अमर रचना कर सके। महान शब्द उन्हीं के मुख से निःसृत होते हैं जिनके विचार गंभीर और गहन हों।" अरस्तु ने विषय को स्वतः साध्य माना है लेकिन लोंजाइनस उसे साधन मानते हैं। वे कहते हैं–विषय के महत्व तथा अनुक्रम की श्रेष्ठता से काव्य ब्रह्मानंद की अनुभूति कराता है। इसके लिए कवि में प्रतिभा के साथ, महान कवियों के साहित्य के अनुशीलन की योग्यता भी होनी चाहिए। वे प्राचीन कवियों के अंधानुकरण के पक्षपाती नहीं थे बल्कि उनसे संस्कार एवं शक्ति प्राप्त करने के पक्षधर थे।

आवेग–भावावेश की तीव्रता से तात्पर्य यह कि लोंजाइनस उद्दाम एवं प्रेरणा–जन्य भव्य आवेग को उदात्त का दूसरा तत्व मानते हैं। भावों का ऐसा आवेग जहां हमारी आत्मा गौरव एवं गर्व से उठकर उच्च आकाश में विचरण करने लगती है। हर्ष एवं उल्लास से भर जाती है। वे कहते हैं–"मैं यह बात पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूं कि जो आवेग उन्माद उत्साह के उद्दाम वेग से फूट पड़ता है और एक प्रकार से वक्ता के शब्दों को विक्षेप से परिपूर्ण कर देता है, उसके यथास्थान व्यक्त होने से स्वर में जैसा औदात्य आता है, वह अन्यत्र दुर्लभ हैं।" वे आवेग के दो भेद मानते हैं–भव्य एवं निम्न। दया, शोक, भय आदि निम्न आवेग के अंतर्गत आते हैं। भव्य आवेग से आत्मा का उत्कर्ष होता है वह दिग्दिगंत व्यापी अनुभव से ओत–प्रोत होकर औदात्य को प्राप्त करती है। औदात्य यानी ऐसी अनुभूति जो अपनी ऊर्जा, उल्लास और संभ्रम से पाठक की संपूर्ण चेतना को अभिभूत कर दे, मुग्ध कर दे।

2. **बहिरंग तत्व–** लोंजाइनस नियमों को महत्वपूर्ण मानते हैं। वे कहते हैं कि प्रकृति का अनुशीलन करें तो मालूम होता है कि उसके कार्य भी नियमानुसार संपादित होते हैं। उसकी अभिव्यक्ति में एक व्यवस्था है। वे प्रतिभा को सदैव नियमानुसार होने वाला तत्व नहीं मानते। प्रतिभा प्राकृतिक वस्तु है वह प्रकृति के नियमों के अनुसार अभिव्यक्त होती है। भाषा, शैली, रचना–विधान आदि को वे 'कला की उपज' मानते हैं। कलागत उदात्त तत्वों में प्रथम है 'समुचित अलंकार योजना'।

3.5.3 अलंकार योजना एवं भाषा

लोंजाइनस अलंकारों को भी एक तरह से काव्य की आत्मा ही मानते थे, लेकिन उसे साधन ही मानते थे साध्य नहीं। उनका मानना है कि प्राकृतिक अभिव्यंजना में अलंकारों का स्थान है। अतः उन्हें कृत्रिम मानना उचित नहीं, पर उनका प्रयोग स्थान, विषय, परिस्थिति और उद्देश्य के अनुरूप प्रासंगिक होना चाहिए। अनावश्यक और अप्रासंगिक नहीं। यहां वे 'औचित्य' से परिचित होने के संकेत देते हैं तथा अपने युग में अलंकार को साध्य न मानने की बात कहना निश्चय ही उनके क्रांतिकारी विचार थे। उन्होंने अपने युग में निर्बाध रूप से प्रयोग किए जाने वाले अलंकारों का संबंध मनोविज्ञान से जोड़ा तथा मनोवैज्ञानिक प्रभावों को व्यक्त करने के लिए अलंकारों को उपयोगी ठहराया। वे अलंकारों को तभी उपयोगी मानते थे जब वह जहां प्रयुक्त हुआ है वहां अर्थ को उत्कर्ष प्रदान करे, लेखक के भावावेग से उत्पन्न हुआ हो, पाठक

को आनंद प्रदान करे, केवल चमत्कृत न करे। उन्होंने शैली को उत्कर्ष प्रदान करने वाले अलंकारों का ही विवेचन किया। उदात्त के पोषक ये अलंकार हैं–विम्नारण, शपथोक्ति, प्रश्नालंकार, विपर्यय, व्यतिक्रम, पुनरावृत्ति, छिन्नवाक्य, प्रत्यक्षीकरण, संचयन, सार, रूप-परिवर्तन, पर्यायोक्ति आदि।

लोंजाइनस रूपक और अतिशयोक्ति को महत्वपूर्ण मानते हैं किंतु इनके प्रयोग में सतर्कता, संयम और विवेक से काम लेने की बात कहते हैं।

उत्कृष्ट भाषा

लोंजाइनस ने इसके अंतर्गत शब्द चयन, रूपक आदि का प्रयोग, भाषा की सज्जा को लिया है। विचार और पद विन्यास को वे अन्योन्याश्रित मानते हैं। वे कहते हैं–"उदात्त विचार क्षुद्र या साधारण शब्दावली द्वारा अभिव्यक्त न होकर गरिमामयी भाषा में ही व्यक्त हो सकते हैं। भाषा की गरिमा का मूल आधार है शब्द सौंदर्य अर्थात उपयुक्त और प्रभावशाली शब्दों का प्रयोग। सुंदर शब्द ही वास्तव में विचार को विशेष प्रकार का आलोक प्रदान करते हैं।" शब्द विन्यास के दो पक्ष होते हैं–ध्वनि पक्ष और अर्थ पक्ष। लोंजाइनस मानते हैं कि– "अनुकूल ध्वनि के शब्दों का चयन काव्य में मोहकता की सृष्टि करता है।" वे भारतीय रीति संप्रदाय की तरह भाषा में ओज, माधुर्य, प्रसाद आदि गुणों को तथा काव्य दोषों को मानते हैं। अरस्तू ने कहा–वाक्य में दो से अधिक रूपक नहीं आने चाहिए। लोंजाइनस इसे नहीं मानते। वे कहते हैं कि अनुभूति की तीव्रता को व्यक्त करने के लिए भाषा का प्रयोग करना ही एकमात्र नियम है। वे हर जगह गरिमामयी भाषा के प्रयोग को उचित नहीं मानते। छोटी-छोटी बातों को बड़ी और भारी-भरकम संज्ञा देना किसी छोटे से बालक के मुंह पर पूरे आकार वाला त्रासद अभिनय का मुखौटा लगा देने के समान है। लोंजाइनस का मत है कि–"शब्द योजना संगीतात्मक प्रभाव के अनुरूप होनी चाहिए। ऐसे शब्दों के प्रयोग से न केवल पाठक को आनंदोपलब्धि होगी, अपितु उसमें उदात्त भाव भी जागेंगे। उसमें वैसे ही भाव जाग्रत होंगे जैसे लेखक की आत्मा में लिखते समय उमड़े थे।"

रचना विधान–लोंजाइनस ने उदात्त रचना विधान के लिए शब्दों, विचारों, कार्यों, सौंदर्य तथा राग के अनेक रूपों के गरिमामय समन्वय, संगुम्फन की बात की है। वे कहते हैं–सामंजस्य रचना का प्राण तत्व है जो उदात्त शैली के लिए आवश्यक है। जिस तरह शरीर के विभिन्न अवयव अलग-अलग महत्वपूर्ण होते हुए भी आपस में मिलकर सुंदर शरीर की रचना करते हैं। उसी तरह उदात्त कृति के लिए उसके तत्वों का एकान्वित होना आवश्यक है।

कल्पना तत्व–लोंजाइनस के अनुसार बिंब से अभिप्राय कल्पनाचित्र से है जिसकी प्रेरणा शक्ति कल्पना है। कल्पना वह शक्ति है जो पहले कवि को मानसिक रूप से वर्ण्य विषय का साक्षात्कार करा देती है और फिर जिसकी सहायता से कवि भाषा में चित्रात्मकता द्वारा वर्ण्य को ऐसे प्रस्तुत करता है कि वह श्रोता-पाठक के सम्मुख जीवंत और प्रत्यक्ष हो उठता है।"

निष्कर्ष-अपने पूर्ववर्ती आलोचकों की तुलना में लोंजाइनस के विचार अत्यंत प्रगतिशील और क्रांतिकारी हैं। ब्रैडले, कॉन्ट आदि से तुलना करने पर तो लोंजाइनस अधिक महत्वपूर्ण

इकाई 4 हिंदी आलोचना के सिद्धांत एवं प्रणालियां

इकाई की रूपरेखा

4.0 परिचय
4.1 इकाई के उद्देश्य
4.2 हिंदी आलोचना के सिद्धांत और प्रणालियां
4.3 हिंदी में काव्यशास्त्रीय चिंतन और आलोचना का विकास
4.4 प्रमुख आलोचना सिद्धांत
  4.4.1 लोकमंगल का सिद्धांत
  4.4.2 आकर्षण-शक्ति सिद्धांत
4.5 रचना के तीन क्षण
4.6 स्वच्छंदतावादी आलोचना
  4.6.1 परिभाषाएं एवं आधार
  4.6.2 मनोवैज्ञानिक विश्लेषण
  4.6.3 स्वच्छंदतावादी काव्य चिंतन की विशेषताएं
  4.6.4 हिंदी के स्वच्छंदतवादी समीक्षक
4.7 मार्क्सवादी आलोचना
  4.7.1 द्वंद्वात्मक भौतिकवाद
  4.7.2 ऐतिहासिक भौतिकवाद
  4.7.3 साहित्य एवं कला संबंधी विचार
4.8 समाजशास्त्रीय आलोचना
4.9 सौंदर्यशास्त्रीय आलोचना
  4.9.1 सौंदर्यशास्त्र की परिभाषा एवं स्वरूप
  4.9.2 सौंदर्य या सौंदर्यात्मक मूल्य
  4.9.3 सौंदर्यात्मक मूल्यों की कोटियां
  4.9.4 सौंदर्य संबंधी तीन विश्वात्मक दृष्टिकोण
4.10 शैली वैज्ञानिक
  4.10.1 शैली वैज्ञानिक आलोचना तत्व
  4.10.2 शैली वैज्ञानिक आलोचना का स्वरूप
4.11 नयी समीक्षा आलोचना प्रणालियां
4.12 सारांश
4.13 मुख्य शब्दावली
4.14 'अपनी प्रगति जांचिए' के उत्तर
4.15 अभ्यास हेतु प्रश्न
4.16 आप ये भी पढ़ सकते हैं

4.0 परिचय

किसी कृति के गुण-दोषों को प्रकाश में लाना ही आलोचना नहीं है, बल्कि सामाजिक एवं कला के परिप्रेक्ष्य में कवि-कर्म की व्याख्या करना और उसे चर्वण योग्य बनाना ही आलोचक का कर्म है और यही वस्तुतः आलोचना, समालोचना या सत्समालोचना है। आलोचना जब काव्य का विश्लेषण, विवेचन एवं मूल्यांकन प्रस्तुत करती है तो वह कलात्मकता के साथ-साथ वैज्ञानिकता का भी आंचल थामती है। काव्य जहां निष्कर्ष के प्रति उदासीन रहता है, वहां

इका

4.0

आलोचना निष्कर्ष प्रदान करती है। क्योंकि निष्कर्ष या निर्णय के लिए किसी काव्य कृति का विश्लेषण एवं विवेचन अपरिहार्य है, जबकि विश्लेषण वैज्ञानिक पद्धति का एक अंग है।

भरतमुनि से लेकर आचार्य भामह, दंडी, राजशेखर, मम्मट, विश्वनाथ, पं. जगन्नाथ तक संस्कृत में समालोचना बहुत विकसित रही है। हिंदी साहित्य में काव्यशास्त्रीय चिंतन की लंबी परंपरा रही है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, डॉ. रामविलास शर्मा इन श्रेष्ठ आलोचकों ने इस साहित्य को समृद्ध किया। भारतीय काव्यशास्त्र को प्रासंगिक सिद्ध किया तथा रस, अलंकारों, रीति वक्रता, ध्वनि और औचित्य की गरिमामयी उपस्थिति को आवश्यक व प्रासंगिक बताया। आज 'समालोचना', 'समीक्षा' या 'आलोचना' के नाम से जो विधा जानी जाती है वह संस्कृत की इस सैद्धांतिक आलोचना से सर्वथा भिन्न है। डॉ. गुलाबराय का कथन है- "आलोचना का मूल उद्देश्य कवि की कृति का सभी दृष्टिकोणों से आस्वाद कर पाठकों को उस प्रकार के आस्वाद में सहायता देना तथा उनकी रुचि को परिमार्जित करना एवं साहित्य की गति निर्धारित करना है।" आलोचना का प्रारंभ रीतिकाल से पहले ही शुरू होता है। रीतिकाल का रीतिबद्ध साहित्य रीतिवादी आलोचना से प्रभावित है और लक्षणों के उदाहरण रूप में रचा गया है। उस समय विवेचना गद्य में नहीं, पद्य में की जाती थी। साहित्य को देखने-समझने की दृष्टि बदली तो उसके मूल्यांकन की कसौटी भी बदलती गई।

हिंदी आलोचना के सिद्धांत एवं प्रणालियों का व्यवस्थित एवं विधिवत विकास आधुनिक काल में हुआ। गद्य साहित्य के विकास के साथ-साथ आलोचना भी समृद्ध होती गई। आलोचना के विकास को इसके साहित्य के माध्यम से देखा जाता है। आलोचना साहित्य को चार वर्गों-भारतेंदु युग, द्विवेदी युग, शुक्ल युग तथा शुक्लोत्तर युग में बांटकर इसका अध्ययन किया जाता है। इन युगों का नामकरण इनके प्रवर्तक आचार्यों के नाम पर पड़ा। भारतेंदु हरिश्चंद्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचंद्र शुक्ल वे महत्वपूर्ण आलोचक हैं जिन्हें आध ारशिला माना जाता है। इसके साथ ही आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. राम विलास शर्मा आदि महत्वपूर्ण आलोचक हैं जिन्होंने अपने चिंतन से आलोचना पद्धतियों को समृद्ध किया और परवर्ती आचार्यों के लिए प्रेरक बने।

हिंदी आलोचना जगत में अनेक सिद्धांत प्रसिद्ध हुए, जिनमें लोकमंगल का सिद्धांत और आकर्षण-शक्ति सिद्धांत का वर्णन यहां किया जा रहा है। इसके साथ ही स्वच्छंदतावादी, मार्क्सवादी, समाजशास्त्रीय और सौंदर्यशास्त्रीय समीक्षा पद्धतियां भी विकसित हुईं। 1950 के बाद हिंदी आलोचना का विकास नये संदर्भों में नयी आवश्यकता की पूर्ति हेतु सही दिशा में अग्रसर हुआ। नयी आलोचना में कृति को ही आधार बनाया गया। नयी आलोचना में रचना की संगति पर विशेष धयान दिया गया। रचना की मूल्यगत प्रासंगिकता को भी ध्यान में रखा गया। इससे आलोचना कृति की तह तक पहुंच सकी। व्यक्ति स्वातंत्र्य के सिद्धांतों को लेकर साहित्य की जो धारा इस काल में विकसित हुई और उसके जिन मूल्यांकन सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ, उन्हें इस वर्ग में रखा गया। उसे 'नयी कविता' या 'नवलेखन' की तर्ज़ पर 'नयी आलोचना' नाम दिया गया। इस वर्ग के आलोचकों ने व्यक्ति स्वातंत्र्य को जीवन का सर्वोच्च मूल्य स्वीकार कर साहित्य की नयी मर्यादाओं की स्थापना की। मानवीय मूल्य, बौद्धिकता, आधुनिकता क्षण के महत्व, सृजनात्मकता, विषय की उपेक्षा, काव्य का महत्व

एवं कलाकार के अंतर्मन की परख आदि साहित्य-मूल्यों के साथ ही नये समीक्षकों ने काव्य में लय के प्रश्न को भी उठाया। नये शैली वैज्ञानिकों के उदय के साथ ही समीक्षा की नयी पद्धतियों का विकास हुआ। इन सभी समीक्षा पद्धतियों का विस्तृत अध्ययन यहां किया जा रहा है।

4.1 इकाई के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- हिंदी आलोचना के सिद्धांत एवं प्रणालियों को परिभाषित कर पाएंगे;
- हिंदी में काव्यशास्त्रीय चिंतन और आलोचना के स्वरूप की पहचान कर पाएंगे;
- प्रमुख आलोचना सिद्धांतों-लोकमंगल एवं आकर्षण-शक्ति सिद्धांतों की विशेषताओं का वर्णन कर पाएंगे;
- रचना के तीन क्षणों की व्याख्या कर पाएंगे;
- स्वच्छंदतावादी आलोचना पद्धति की विशेषताओं का वर्णन कर पाएंगे;
- मार्क्सवादी आलोचना के स्वरूप का विश्लेषण कर पाएंगे;
- समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धति के सिद्धांतों का विवेचन कर पाएंगे;
- सौंदर्यशास्त्रीय आलोचना मूल्यों की व्याख्या कर पाएंगे;
- शैली वैज्ञानिक एवं भाषिक सौंदर्य के आपसी संबंधों की पहचान कर पाएंगे;
- नयी समीक्षा की आलोचना प्रणालियों का विश्लेषण कर पाएंगे।

4.2 हिंदी आलोचना के सिद्धांत और प्रणालियां

आलोचना–व्युत्पत्तिपरक अर्थ–'आ' उपसर्ग पूर्व लोच् 'दर्शने' धातु के साथ 'ल्युट्' प्रत्यय के योग से 'आलोचन' एवं 'टाप्' (स्त्रीलिंग) प्रत्यय के लगने से 'आलोचना' शब्द व्युत्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है–किसी वस्तु को चारों ओर से देखना या विचार करना। व्यावहारिक रूप में हम यह कह सकते हैं कि किसी वस्तु या विधा पर किसी या किन्हीं आधारों पर विचार करना या परीक्षण करना आलोचना है। कोई भी वस्तु, विधा या व्यक्ति जब हमारे समक्ष उपस्थित होता है तो हमारे मस्तिष्क में उसके प्रति एक भौतिक प्रतिक्रिया होती है और कुछ क्षण में उस वस्तु, विधा या व्यक्ति के संबंध में कुछ धारणाएं जन्म ले लेती हैं। ये धारणाएं ही हमें उन वस्तुओं के संबंध में एक निश्चित दृष्टि प्रदान करती है। वस्तुतः इस दृष्टि का नाम ही आलोचना है।

जब हम 'आलोचना' शब्द को उसके पारिभाषिक अर्थ के संदर्भ में देखते हैं तो प्रतीत होता है कि 'आलोचना' साहित्य की वह विधा है, जो कलाकार की सृष्टि में निहित रहस्य को सर्वजन हिताय, साकार रूप प्रदान करती है। आलोचक किसी कृति को हृदयंगम करता है, उसके रस-प्रवाह में अपने को निमग्न कर देता है और फिर उसकी विशेषताओं पर विचार करता हुआ उसकी उपलब्धियों एवं कमियों का खाका खींचता है। इतना ही नहीं कृतियों को

श्रेणीबद्ध करना, लक्ष्य-ग्रंथों के आधार पर लक्षणों की स्थापना करना या फिर उन लक्षणों के आधार पर किसी कृति का मूल्यांकन करना एवं उस पर अपना निर्णय देना या अन्य कृतियों को उसके समकक्ष रख कर तुलनात्मक अध्ययन करना आदि समस्त स्थितियां भी आलोचना के कार्यक्षेत्र के अंतर्गत ही आती है। आजकल आलोचना का क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया है। आज का पाठक केवल इतने से ही संतुष्ट नहीं होता कि किसी कृति के अध्ययन के पश्चात वह कौन-सी रस-धारा में निमग्न हुआ, बल्कि उसकी दृष्टि कृति के सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक पहलुओं पर भी टिकती है। वास्तविकता यह है कि सहृदय सामाजिक काव्य कृति में जीवन के उन समस्त उत्थान-पतनों की सटीक झांकी पा लेना चाहता है, जिसे उसने स्वयं भोगा है या अन्य लोग जिसे भोग रहे हैं। इतना ही नहीं वह उसे भी जान लेना चाहता है, जिसे वर्तमान सामाजिक परिप्रेक्ष्य में परिणाम स्वरूप यह भोग सकता है। कवि या कलाकार ने बहुत संभव है सहृदय-सामाजिक की इन समस्त क्षुधाओं को परितृप्त करने का प्रयास अपनी कृति में किया हो, किंतु सभी लोग उसका अनुसंधान कर सकें, यह आवश्यक नहीं है। फलतः कवि कर्म की उन समस्त उपलब्धियों को प्रकाश में लाना ही आलोचना का कार्यक्षेत्र है। वस्तुतः किसी कृति के गुण-दोषों को प्रकाश में लाना ही आलोचना नहीं है, बल्कि सामाजिक एवं कला के परिप्रेक्ष्य में कवि-कर्म की व्याख्या करना और उसे चर्वण योग्य बनाना ही आलोचक का कर्म है और यही वस्तुतः आलोचना, समालोचना या सत्समालोचना है।

आलोचना जब काव्य का विश्लेषण, विवेचन एवं मूल्यांकन प्रस्तुत करती है तो वह कलात्मकता के साथ-साथ वैज्ञानिकता का भी आंचल थामती है। काव्य जहां निष्कर्ष के प्रति उदासीन रहता है, वहां आलोचना निष्कर्ष की अनदेखी नहीं कर सकती और सही निष्कर्ष वैज्ञानिक पद्धति के बिना संभव नहीं है। क्योंकि निष्कर्ष या निर्णय के लिए किसी काव्य कृति का विश्लेषण एवं विवेचन अपरिहार्य है, जबकि विश्लेषण वैज्ञानिक पद्धति का एक अंग है।

विद्वानों ने अत्यंत सावधानी के साथ आलोचक के लिए कतिपय अपरिहार्य गुणों का निर्धारण किया है जो इस प्रकार हैं–

(क) विषय का निष्णात पंडित,

(ख) निष्पक्षता,

(ग) अभिव्यक्ति की क्षमता और

(घ) सहृदयता।

हिंदी साहित्य के आदिकाल में गद्य साहित्य के अभाव के कारण अथवा अन्य कारणों से आलोचना के स्वतंत्र विकास के कोई चिह्न दृष्टिगत नहीं होते। उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य की तरह किसी विद्वान या भावुक कलाकार की किसी कवि या कृति पर की गई कोई आलोचनात्मक टिप्पणी भी उपलब्ध नहीं होती। फलतः कहा जा सकता है कि हिंदी साहित्य के आदि काल में काव्यशास्त्र या आलोचना जैसी किसी विधा का अस्तित्व नहीं था।

कतिपय विद्वान कवियों द्वारा अपने काव्य-ग्रंथों में व्यक्त उन काव्यशास्त्रीय उक्तियों में आलोचना के विकास का दर्शन करते हैं, जो उन्होंने प्रसंगवश अपने संबंध में, अपनी कृति

के संबंध में अथवा काव्यशास्त्र के किसी पक्ष या अंग के संबंध में कहीं है। उदाहरण के लिए विद्यापति, प्रसिद्ध हिंदी कवि मलिक मुहम्मद जायसी, महाकवि तुलसीदास। इन कवियों ने या तो अपने संबंध में कुछ कह दिया है या फिर किसी काव्य-संबंधी सामान्य उक्ति पर कथन कर दिया है, जो परंपरागत संस्कृत साहित्य से चली आ रही है।

आलोचना साहित्य का बीज-वपन निश्चय ही भक्तिकाल में हो गया था, किंतु यह बीज वपन कवियों की व्यक्तिगत उक्तियों से नहीं अपितु विद्वान सहृदय पाठकों की उन सूक्तियों से है जो किसी कृति के रस-सागर में निमग्न होने के पश्चात उद्गमित हुई है। भक्तिकाल में हमारा आलोचना के दो रूपों से परिचय होता है। एक तो शास्त्रीय या सैद्धांतिक आलोचना से, जिसका शुद्ध परंपरागत शास्त्रीय रूप नंददास के 'रस मंजरी' ग्रंथ में उपलब्ध होता है। दूसरे, व्यावहारिक आलोचना के तुलनात्मक एवं प्रभावात्मक रूपों का दर्शन होता है, जब कोई विद्वान किसी कृति के चिंतन और मनन के पश्चात अपने प्रभाव की अभिव्यक्ति कर बैठा है, यथा–

किधौं सूर को सर लगौ किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लगौ तनमन धुनत शरीर॥

अनेक विद्वानों का अभिमत है कि स्वयं सूरदास जी ने 'साहित्य-लहरी' ग्रंथ का प्रणयन किया था जिसमें साहित्य-शास्त्र संबंधी अनेक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है।

जहां तक प्रभावात्मक आलोचना का प्रश्न है उसका बीज-वपन भी भक्ति काल में हो चुका था। तुलसी और सूर की श्रेणी में गंग कवि और कवि केशवदास के नामों का उल्लेख तत्कालीन आलोचक प्रायः करते रहे हैं। महाकवि तुलसीदास के संबंध में रहीम खानखाना की निम्नलिखित उक्ति प्रभावात्मक आलोचना का अच्छा उदाहरण है–

सुरतिय नरतिय, नागतिय, सब चाहति अस होय।
गोद लिए हुलसी फिरै, तुलसी सो सुत होय॥

इसी प्रकार संस्कृत शैली में सूरदास पर लिखी गई निम्नलिखित उक्ति को तुलनात्मक आलोचना का आधार माना जा सकता है, यथा–

उत्तम पद कवि गंग के, कविता को बलवीर।
केशव अर्थ गंभीर को, सूर तीन गुन धीर॥

रीतिकालीन आचार्यों ने हिंदी साहित्य में एक प्रणालीबद्ध आलोचना की स्थापना की। यह इतर तथ्य है कि आधुनिककाल में आलोचना का जो स्वरूप उभर कर सामने आया, उसके साथ रीतिकालीन आलोचना का योगदान नगण्य है। आधुनिककाल में भी हमारे आलोचना-शास्त्र पर संस्कृत काव्यशास्त्र का अप्रतिम प्रभाव है। रसवादी आचार्य, रामचंद्र शुक्ल, डॉ. नगेंद्र प्रभृति विद्वान अपनी प्राचीन परंपरा से पूर्णतः जुड़े रहे किंतु इन्होंने प्राचीन काव्यशास्त्र का जो मौलिक विवेचन, सिद्धांतों की नवीन एवं सटीक व्याख्याएं तथा अपने परिवेश के साथ उन सिद्धांतों की संगति का जो स्तुत्य प्रयास किया है, वह रीतिकालीन आचार्यों में उपलब्ध नहीं होता। वास्तविकता तो यह है कि रीतिकालीन आचार्यों का प्रमुख लक्ष्य लक्षणों की स्थापना न होकर स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत करना था। फलतः लक्षण गौण हो गए और उदाहरण मनोरम और हृदयग्राही हो उठे।

4.3 हिंदी में काव्यशास्त्रीय चिंतन और आलोचना का विकास

संस्कृत साहित्य के पश्चात काव्यशास्त्र की एक परंपरा, जो धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही थी उसकी पुनः स्थापना का श्रेय रीतिकालीन आचार्यों को ही जाता है। कम से कम इतना स्वीकार करने के लिए तो हमें तैयार रहना ही चाहिए कि द्विवेदी युगीन अनुवाद परंपरा ने जिस प्रकार कथा, नाटक, उपन्यास आदि के लिए जैसे एक आधारभूमि तैयार की, उसी प्रकार रीतिकालीन आचार्यों ने भी काव्यशास्त्र के लिए एक आधारभूमि तैयार की। परीक्षा गुरु और संयोगिता स्वयंवर जैसी कृतियों ने जिस प्रकार गोदान, कंकाल, लज्जा जैसे उपन्यासों को प्रेरणा दी उसी प्रकार रीतिकालीन आचार्यों के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों ने आचार्य शुक्ल और डॉ. नगेंद्र के व्यक्तित्व निर्माण में अपना योगदान किया है। दोनों ही आचार्य इस तथ्य से इनकार नहीं कर सकते। अतः रीतिकाल पर मौलिकता के अभाव की मुद्रा अंकित कर आगे निकल जाना न तो उचित ही है और न काम्य ही, अपितु ऐसा करके हम उन विद्वानों के परिश्रम के प्रति अन्याय ही करते हैं। स्वयं आचार्य शुक्ल ने महाराजा जसवंतसिंह के 'भाषाभूषण', मतिराम के 'रसराज' और 'ललित ललाम', सुखदेव मिश्र के 'वृत्त विचार' आदि ग्रंथों की प्रशंसा की है। रीतिकाल का इस दृष्टि से एक ऐतिहासिक महत्व तो है ही।

वस्तुतः काव्य साधना के अनुरूप आलोचना का तात्कालिक सही विकास आधुनिककाल में ही हुआ है। इसके अनेक कारण हैं।

1. शास्त्रीय विवेचन एवं काव्य-विश्लेषण के लिए गद्य का होना परमावश्यक होता है। आधुनिककाल में गद्य लेखन का आविर्भाव हो चुका था, जो आधुनिककाल के आचार्यों के लिए अत्यंत सुविधाजनक रहा।
2. आंग्ल भाषा के पठन-पाठन ने विद्वानों को विवेचन एवं विश्लेषण की मौलिक दृष्टि प्रदान की, इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता।
3. अनेक सांस्कृतिक विद्वानों ने भारत में सांस्कृतिक पुनरुत्थान का श्रीगणेश किया, जिससे संस्कृत भाषा के अध्ययन की ओर विद्वानों की रुचि बढ़ी और हमने संस्कृत काव्यशास्त्र को नये परिप्रेक्ष्य में देखने और तदनुरूप उसकी व्याख्या करने का प्रयास किया।
4. पाश्चात्य जगत की औद्योगिक क्रांति ने भी भारतीय मनीषियों को वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान की तथा जीवन के समस्त पहलुओं को उसके उसी रूप में देखने की ओर उन्मुख किया। फलतः हम काव्य में प्राचीन आदर्शों, काव्य के विभिन्न अंगों एवं उपांगों के साथ-साथ जीवन के उन पहलुओं के विवेचन की ओर भी उन्मुख हुए जिसे हम भोग रहे थे।
5. काव्य को राष्ट्रीय चेतना के संदर्भ में भी देखने का प्रयास किया गया और जीवन के सामाजिक एवं आर्थिक पहलुओं को भी काव्य का अभिन्न अंग मान कर काव्य में उसे खोजने का प्रयास किया। फलतः आलोचना का बहुमुखी विकास हुआ और काव्य के प्राचीन मानदंड आज की आलोचना के केवल एक अंग (सैद्धांतिक या शास्त्रीय आलोचना) के रूप में ही समाहित होकर रह गए।

संस्कृत काव्यशास्त्र में जिन विभिन्न संप्रदायों का उद्गम हुआ था, वे काव्य के भाव पक्ष या कला पक्ष तक सीमित हो गए। आज का आलोचक रस-निष्पत्ति की शास्त्रीय व्याख्या से संतुष्ट नहीं होना चाहता, बल्कि वह काव्य के प्रतिपाद्य या कथ्य का विवेचन सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक आदि अनेक दृष्टियों से करना चाहता है और इन सब दृष्टियों से यह कहां तक सफल और असफल रहा है, उसका मूल्यांकन कर उस पर अपना निर्णय भी देना चाहता है। इन सब कारणों से आलोचना का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत होता चला गया। इस दृष्टि से आधुनिक काल के आलोचना साहित्य को चार वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

(1) भारतेंदु युग (2) द्विवेदी युग (3) शुक्ल युग, और (4) शुक्लोत्तर युग। कतिपय विद्वान आचार्य शुक्ल को प्रमुख बिंदु मान कर इसे केवल तीन युगों में ही विभाजित करना अधिक उपयुक्त समझते हैं; यथा–(1) शुक्ल पूर्व युग, (2) शुक्ल युग, और (3) शुक्लोत्तर युग।

प्रस्तुत प्रसंग में हम प्रथम वर्गीकरण को ही आधार मानकर विवेचन कर रहे हैं–

1. **भारतेंदु युग**–भारतेंदु युग में किसी कृति के गुण-दोषों का विवेचन ही आलोचना का लक्ष्य रहा। दूसरे इस युग में आलोचना पुस्तकाकार में उभर कर नहीं आई, बल्कि लेखों के माध्यम से पुस्तकों की विस्तृत समालोचना लिखी जाने लगी। इसका सूत्रपात सर्वप्रथम पं. बदरीनारायण चौधरी ने अपनी 'आनंद कादंबिनी' पत्रिका में किया। आपने श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक की कड़ी एवं विशद आलोचना अपनी पत्रिका में प्रकाशित की। उधर स्वयं भारतेंदु जी ने अपनी पत्रिका 'कवि वचन सुधा' में 'हिंदी कविता' शीर्षक एक लेख लिखा, जिसमें कविता के गुण-दोषों का सम्यक विवेचन निहित है। इस युग में पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के कारण आलोचना को एक आधार भूमि प्राप्त हुई, यथा–'हरिश्चंद्र चंद्रिका', आनंद कादंबिनी, सार सुधा निधि, हिंदी प्रदीप आदि पत्रिकाओं में विभिन्न प्रकार के आलोचनात्मक लेखों का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। उदाहरणार्थ हिंदी प्रदीप में प्रकाशित 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना, आनंद कादंबिनी में 'बंग विजेता' उपन्यास की आलोचना आदि कुछ इस प्रकार के आलोचनात्मक लेख हैं, जिनमें गुण-दोषों के विवेचन के साथ-साथ विद्वान लेखक कृतियों के आंतरिक मूल्यांकन एवं सिद्धांतों की चर्चा की ओर भी उन्मुख हुए हैं। स्वयं भारतेंदु जी ने 'नाटक' नामक एक लेख (जो पुस्तिका के रूप में भी उपलब्ध है) में नाटकीय सिद्धांतों की चर्चा के साथ-साथ नाटक में युगानुरूप परिवर्तन एवं परिवर्धन का सुझाव भी प्रस्तुत किया है।

   उपर्युक्त आकलन के पश्चात संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आलोचना का जो स्वरूप आज उपलब्ध होता है, उसकी मजबूत आधार-शिला की स्थापना भारतेंदुयुगीन विद्वानों ने की, जो आगे चल कर फलती-फूलती चली गई। भारतेंदु युग की आलोचना को हम व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत ही परिणमित कर सकते हैं।

2. **द्विवेदी युग**–भारतेंदु जी के पश्चात हिंदी साहित्य के प्रांगण में लौह-पुरुष पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी ने पदार्पण किया। पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी संस्कृत के प्रकांड पंडित एवं काव्य में नैतिकता के प्रबल समर्थक थे। वे काव्य में भाषागत

त्रुटियों के भी विरुद्ध थे। इन सबका तत्कालीन आलोचना पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। द्विवेदीयुगीन आलोचना साहित्य की सर्वोपरि विशेषता यह है कि लेखों, टिप्पणियों आदि के साथ कृति एवं कृतिकारों पर स्वतंत्र पुस्तकों के प्रणयन की प्रणाली का प्रारंभ हुआ। दूसरे, इस युग में सामान्य कोटि की तुलनात्मक आलोचना का भी सूत्रपात हुआ, जिसका आगे चल कर परिष्कृत एवं प्रांजल रूप में विकास हुआ। तीसरे, पाश्चात्य आलोचना एवं प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र का स्वरूप हिंदी आलोचना साहित्य में अधिक निखार के साथ प्रतिष्ट हुआ। इतना सब होने पर भी हम द्विवेदी युगीन आलोचना के स्तर को उच्चकोटि का नहीं कह सकते। हां! फिर भी आगामी विद्वानों के लिए आधारभूमि तैयार करने में तथा नयी प्रकाशित पुस्तकों की भाषाई त्रुटियों के दिग्दर्शन में द्विवेदी युगीन आलोचकों का योगदान प्रशंसनीय है।

इस युग में सर्वप्रथम पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'हिंदी कालिदास की आलोचना' पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमें कालिदास की अनूदित पुस्तकों की भाषाई त्रुटियों की ओर संकेत किया गया है। इसके अतिरिक्त द्विवेदी जी की ही 'विक्रमाङ्क-देव चरित चर्चा, नैषध चरित चर्चा और कालिदास की निरंकुशता' पुस्तकें प्रकाशित हुई। ये सब संस्कृत की परंपरागत रूढ़ शैली में लिखी गई हैं एवं इनका केवल ऐतिहासिक महत्व ही है।

इसी युग में मिश्र बंधुओं का नाम उल्लेखनीय है। इनके 'हिंदी नवरत्न' और 'मिश्रबंधु विनोद' ग्रंथ ही अधिक चर्चित हैं। उक्त दोनों ही ग्रंथ किसी भी प्रकार की उत्तम आलोचना का स्वरूप प्रस्तुत नहीं करते। फलतः आगे चलकर हिंदी जगत ने इन्हें पूर्णतः नकार दिया। 'हिंदी नवरत्न' ने हिंदी आलोचना के क्षेत्र में देव और बिहारी को लेकर एक अच्छा खासा विवाद अवश्य उपस्थित कर दिया। इससे एक लाभ अवश्य हुआ कि कुछ विद्वानों ने बिहारी और देव की सूक्ष्म काव्यगत विशेषताओं का भी अवलोकन किया। इस विवाद में प्रविष्ट पं. कृष्णबिहारी मिश्र, पं. पद्मसिंह शर्मा और लाला भगवानदीन को भी नहीं भुलाया जा सकता। जहां पं. कृष्णबिहारी मिश्र ने अत्यंत संयत एवं प्रौढ़ शैली में बिहारी और देव की काव्यगत विशेषताओं का विश्लेषण कर 'देव' को बिहारी की तुलना में 'प्रमुख स्थान' दिया तो वहीं पद्मसिंह शर्मा और लाला भगवानदीन ने बिहारी को श्रेष्ठ सिद्ध करने में अपनी सारी शक्ति लगा दी। यद्यपि आलोचना के क्षेत्र में खंडन-मंडनात्मक प्रवृत्ति तथा किसी को छोटा-बड़ा बताने की आदत उचित नहीं है तो भी इस कारण से सूक्ष्म अन्वेषण, भाव-पक्ष एवं कला-पक्ष का सम्यक विवेचन तो उभर कर आता ही है। एक के दोष स्पष्ट होते हैं तो दूसरे के गुण और सुधी पाठकों को अपने विवेक के अनुसार उनके चयन का अवसर प्राप्त होता है। इसी प्रसंग में पदुमलाल पन्नालाल बख्शी के 'विश्व साहित्य' ग्रंथ का उल्लेख भी अत्यंत आवश्यक है, जिसके कारण हिंदी आलोचकों को पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अध्ययन की प्रेरणा मिली और जिसका सफल परिपाक आगे चल कर डॉ. नगेंद्र की कृतियों में हुआ।

3. शुक्ल युग–आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के पश्चात एक सशक्त, मेधावी एवं सूक्ष्म अन्वेषणकर्ता व्यक्तित्व ने आलोचना के क्षितिज पर नवोन्मेष किया। इन्हें पं. रामचंद्र शुक्ल के नाम से जाना जाता है। आलोचना के क्षेत्र में इन्हें युग पुरुष की

संज्ञा दी जाती है। इन्होंने अपनी पारदर्शी दृष्टि एवं सूक्ष्म चिंतन के द्वारा एक कुशाग्र और तत्व पारखी के रूप में हिंदी आलोचना को नया आयाम, ऊंचा अर्थ एवं आशय प्रदान किया। वस्तुतः आचार्य शुक्ल ने प्राचीन काव्यशास्त्र के सार तत्व को ग्रहण कर उसमें पाश्चात्य समीक्षा का पुट देकर युगानुरूप काव्य कृतियों का अवलोकन कर आलोचना साहित्य को एक नया रूप प्रदान किया। आचार्य शुक्ल के लिए तुलसीदास एक आदर्श थे। फलतः उनकी समीक्षा पद्धति लोक मंगल की आधारशिला पर नैतिकता की वेश-भूषा में रसदात्री गंगा के रूप में साकार हो उठी। आपने आलोचना की जिस किसी भी धारा या शाखा का स्पर्श किया, उसे ही तलस्पर्शिनी एवं गगन चुंबिनी प्रकाश-शिखा का रूप प्रदान कर दिया। आपके 'साधारणीकरण' और 'व्यक्तिवैचित्र्यवाद', कविता क्या है? 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था' आदि अनेक लेखों में तथा 'रस-मीमांसा' जैसे ग्रंथों में सैद्धांतिक आलोचना का प्रसाद आलोकित है तो गोस्वामी तुलसीदास, भ्रमरगीत सार की भूमिका और जायसी ग्रंथावली की भूमिका में व्याख्यात्मक एवं निर्णयात्मक आलोचना के दर्शन होते हैं। आपके प्रसिद्ध ग्रंथ 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में कवि, युग एवं काव्य विधाओं के विकास के संबंध में प्रदत्त टिप्पणियां भी आलोचना के विभिन्न आयामों का उद्घाटन करती है। संक्षेप में कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल की मेधा का संस्पर्श पाकर हिंदी आलोचना ने एक स्थायी समृद्ध साहित्यानुरूप स्वरूप ग्रहण कर लिया तथा वह भावी आलोचकों के लिए प्रकाश स्तंभ का कार्य करने लगी।

इस युग के अन्य आलोचकों में डॉ. श्यामसुंदरदास का 'साहित्यालोचन', श्री शांतिप्रिय द्विवेदी का 'हमारे साहित्य निर्माता', डॉ. सत्येंद्र का 'गुप्तजी की कला', डॉ. नगेंद्र का 'सुमित्रानंदन पंत' आदि अनेक ग्रंथ उच्च कोटि की आलोचना के प्रतीक ग्रंथ कहे जा सकते हैं। इसी प्रसंग में पं. रामकृष्ण शुक्ल की 'सुकवि समीक्षा' भी उल्लेखनीय है।

4. **शुक्लोत्तर युग**—आचार्य शुक्ल द्वारा प्रशस्त मार्ग को और भी अधिक स्वच्छ एवं प्रांजल बनाने में शुक्लोत्तर आलोचकों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। सच तो यह है कि अब हिंदी-साहित्य में आलोचना की बाढ़-सी आ गई। इसमें दो प्रकार के आलोचक आते हैं—एक तो वे जो फैशन के लिए अथवा मार्केट में आने के लिए ही कुछ लिखना चाहते हैं जिनका वास्तविक आलोचना से दूर का भी कोई संबंध नहीं है। दूसरे, वे विद्वान मनीषी हैं, जिन्होंने अपनी कृतियों, लेखों आदि से हिंदी आलोचना के गौरव को ही नहीं बढ़ाया, बल्कि आलोचना-साहित्य को अनेक नये आयाम भी प्रदान किए हैं। कुछ विद्वानों ने प्राच्य एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धांतों का अत्यंत मार्मिक एवं सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत कर उनके साम्य-वैषम्य का स्पष्ट निदर्शन किया है। इन विद्वानों में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, और पं. हजारी प्रसाद हैं। दूसरे, वे विद्वान मनीषी हैं, जिन्होंने अपनी कृतियों, लेखों आदि से हिंदी आलोचना के गौरव को ही नहीं बढ़ाया, बल्कि आलोचना-साहित्य को अनेक नये आयाम भी प्रदान किए हैं। कुछ विद्वानों ने प्राच्य एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धांतों का अत्यंत मार्मिक एवं सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत कर उनके साम्य-वैषम्य का स्पष्ट निदर्शन किया है। इन विद्वानों में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र,

डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पं. रामदहिन मिश्र, प्रो. गुलाबराय, डॉ. सत्येंद्र, शिवदानसिंह चौहान, डॉ. रामविलास शर्मा एवं मूर्धन्य आलोचक डॉ. नगेंद्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसी स्तर के अन्य भी सैकड़ों आलोचक आज अपना स्थान हिंदी साहित्य में बनाए हुए हैं। 21वीं सदी का आरंभ नयी कविता, अकविता तथा अनेक तरह की गद्य विधाओं का युग है अतः आलोचना का विस्तार भी उसी अनुपात में हुआ है।

आज आलोचना के नैतिक मूल्य, सामाजिक मूल्य बदले हैं। भारतीय संस्कृति पश्चिमी संस्कृति से आक्रांत हुई है। शिक्षा का, रोजगार का, सरकारी नौकरियों का, गृहस्थ जीवन का भी सकारात्मक उन्मेष हुआ। या यों कहें कि अभी पूरा नहीं हुआ। भारत अब भी गरीब और अशिक्षितों का देश है, अतः पूर्णता की दुहाई देना बेमानी है, क्योंकि एक सौ सत्ताइस करोड़ की जनसंख्या वाले इस प्रगतिवादी देश में एक साथ सब कुछ पूर्ण नहीं होगा। संक्रांति काल जैसी स्थिति में जीने वाला सामाजिक रचनाकार इन प्रभावों की छाया में लिखता है और आलोचक इन्हीं मूल्यों की आधार भूमि पर आलोचना करता है। कविता, निबंध, संस्मरण, उपन्यास, कहानी आदि हर विधा की आलोचना को व्यापक स्तर पर स्थान मिला है। आलोचक बढ़े हैं, रचनाकार बढ़े हैं और पाठक भी। जनसंख्या वृद्धि के अनुपात में पाठकों की रुचि वैविध्य के आधार पर रचनाओं का लेखन, पाठन, आलोचन तो चल ही रहा है साथ ही ऐसे तपस्वी, साधक, रचनाकार और आलोचक भी हैं जो कलम और दृष्टि को, चिंतन को अपनी आत्मा के अधीन रखकर आलोचना एवं लेखन करते हैं पूरी ईमानदारी और लोक मंगलकारी भावना के साथ। वे अपनी रचनात्मकता को व्यवसाय या निजी उद्देश्य की पूर्ति का अंग नहीं बनाते। बहरहाल स्थिति संतोषजनक है कि आलोचना की वेगवती धारा अपने सहस्रों रूपों में निर्बाध प्रवाहित है। अब युग नये आलोचकों का है, आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी, भगीरथ मिश्र, डॉ. नामवर सिंह, डॉ. निर्मला जैन, मैनेजर पांडेय, विजय बहादुर सिंह, रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि नामों के बाद–साथ और आगे-पीछे अनेक महत्वपूर्ण नाम हैं जो गद्य-पद्य साहित्य की आलोचना का पथ प्रशस्त कर रहे हैं। नये संघ, नये वाद और नयी विचारधारा ने दृष्टि को उतना न्यायसंगत तो नहीं रहने दिया जितना पूर्ववर्ती शुक्ल युग और शुक्ल पूर्व के युग में थी। अब रचना और आलोचना का कर्म वैसा निःस्वार्थ, लोक कल्याणमयी, राष्ट्र प्रेम, आस्था और निष्ठा से ओतप्रोत नहीं रहा, लेकिन यह अवश्य कहा जा सकता है कि सबकी अपनी-अपनी अवस्थाएं एवं निष्ठाएं हैं, अपनी-अपनी परिस्थितियां और दृष्टिकोण हैं जिनका प्रभाव आलोचना में दिखाई देता है।

21वीं सदी के आरंभ में शिक्षा के साथ प्रत्येक मनुष्य में चाहे वह रचनाकार न भी हो, आलोचक न हो, साहित्य का ज्ञाता न हो, आलोचना करने की प्रवृत्ति बढ़ी है। चेतना ने उसे स्वयं आलोचक बना दिया, ऐसी स्थिति में साहित्य के आलोचकों को कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है कि वे अपनी सम्मति को ही ईमानदारी से प्रकट करें या बहुसंख्य सामाजिकों की बात रखें। कभी दोनों का मत एक हो सकता है कभी नहीं। ऐसे में वाद-विवाद बढ़ते हैं और इनके बीच आलोचना को और फलने-फूलने का अवसर मिलता है। अधिकतर आलोचना वाद

और समूह से ग्रस्त है। 'तू मेरी टांग खींचेगा तो मैं भी तेरी टांग खींचूंगा' की प्रवृत्ति में निजी स्वार्थों से घिर कर व्यक्तिगत राग-द्वेषों के नीचे रचना के साथ न्याय नहीं हो पाता। श्रेष्ठ रचनाएं कचरे के डिब्बे में या किसी कोने में पड़ी रह जाती हैं और निकृष्ट रचनाओं को बड़े-बड़े सम्मान और पुरस्कारों से नवाजा जा रहा है। आलोचना के लिए यह इस वर्तमान काल का कटु अनुभव है और कठोर एवं घृणित सत्य है। अपवादों के सहारे जैसे सृष्टि चलती रही है वैसे ही रचना और आलोचना का कार्य भी चलता रहेगा।

4.4 प्रमुख आलोचना सिद्धांत

विभिन्न काव्यशास्त्री काव्य के अध्ययन विश्लेषण के लिए अलग-अलग सिद्धांतों को लेकर आलोचना-जगत में अवतरित हुए और सभी ने अपनी विचारधारा को स्थापित करने का प्रयास किया। यहां आलोचकों द्वारा प्रतिस्थापित कुछ प्रमुख सिद्धांतों का विवेचन किया जा रहा है।

4.4.1 लोकमंगल का सिद्धांत

प्रख्यात आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिंदी आलोचना के प्रमुख केंद्र माने जाते हैं। लोक चिंता, लोकधर्म, लोक जीवन, लोक हृदय, लोकादर्श आदि शुक्ल जी के जीवन दर्शन के आधार शब्द हैं। इन्हीं के भीतर अपनी समस्त समीक्षा-दृष्टि अंगी रूप में विद्यमान हैं। इसी केंद्रीय चिंतन की शब्दावली से शुक्ल जी ने काव्य का समस्त विवेचन 'लोक धर्म' और 'लोक मंगल' की दृष्टि से किया है। अपनी इस दृष्टि को समझने-समझाने में उन्होंने अनेक स्थानों पर लिखा है। जैसा कि चिंतामणि ने कई स्थानों पर लिखा है-

"कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक सामान्य भावभूमि पर ले जाती है, जहां जगत की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है।"

"सच्चा कवि वही है जिसे लोक हृदय की पहचान हो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके इसी लोक हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस दशा है।

उपर्युक्त इसी प्रकार की विचारभूमि में शुक्ल जी ने 'लोक हृदय' तथा लोक-मंगलवादी सिद्धांत की स्थापना की है। शुक्ल जी ने इस सिद्धांत के जरिये भाववादी आदर्शवादी-कलावादी दृष्टि का सीधा विरोध किया है। आचार्य शुक्ल की इसी दृष्टि को समझते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है- "मानव जीवन में भावों का प्रकृत रूप साहित्य में आकर बदल नहीं जाता-शुक्ल जी के तर्क की यह आधारशिला है। साहित्य के संबंध में जितनी भावनादी मान्यताएं हैं, वे साहित्य को जीवन से अलग करके देखती हैं। शुक्ल जी की मौलिक मान्यता यह है कि वे साहित्य के भावों और जीवन के भावों में बुनियादी अंतर नहीं है।

लोक के प्रति करुणा से भरकर रावण पर चढ़ाई करने वाले, राम का आदर्श ही शुक्ल को प्रिय है। इसीलिए 'रामचरितमानस' से उन्होंने अपने लोकादर्श को पुष्ट किया है। तुलसी ही उनके प्रिय कवि हैं। समाज की आवश्यकताओं से अनभिज्ञ सूरदास को तुलसी से बड़ा

भक्ति पद देने पर भी वे सूर के लोक-धर्म की निंदा करते हैं और लोक धर्म का पालन करने के कारण ही राम में उनका मन रमता है। पश्चिम के कवि शैली में उन्हें दृष्टि के अनुकूल तत्व मिले हैं, वे लिखते हैं 'स्वतंत्रता के उन्मत उपासक, घोर परिवर्तनवादी शैली के महाकाव्य 'दि रिवोल्ट ऑफ इसलाम' के मादक-नायिका अत्याचारियों के पास जाकर उपदेश देने वाले, गिड़गिड़ाने वाले, अपनी साधुता, सहनशीलता और शांतवृत्ति का चमत्कार प्रदर्शन करने वाले नहीं हैं। वे उत्साह की उमंग में प्रचंड वेग से युद्ध-क्षेत्र में बढ़ने वाले, पाखंड, लोक-पीड़ा और अत्याचार देख पुनीत क्रोध के 'सात्विक तेज' से तमतमाने वाले या स्वार्थवश आततायियों की सेवा स्वीकार करने वालों की प्रति उपदेश प्रकट करने वाले हैं।

इस प्रकार 'लोक-पीड़ा' ने उनका विशेष ध्यान आकृष्ट किया है। मानवतावादी द्विवेदीयुगीन समीक्षादर्शों का उनमें परिष्कृत सुधार भी इसी रूप में हुआ है कि उन्होंने रहस्यवाद अतश्चेतना, कलावाद, सामंतवाद, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद आदि सभी समाज विरोधी शक्तियों साहित्य एवं आलोचना में से निकालकर 'लोकमंगल की साधनावस्था' को स्थापित किया है।

समस्त संस्कृत साहित्य में लोक-दृष्टि की प्रधानता है। काव्य-प्रयोजन की चर्चा करते हुए भारतीय आचार्यों ने जीवन के कल्याणकारी मूल्यों की सदैव महत्व प्रतिष्ठा की है। अंग्रेजी के वे लेखक जिनके संपर्क में आचार्य थे, मूलत: कला को जीवन के लिए मानते थे। उनके प्रिय विचारकों में अरस्तू, लोंजाइनस, लोक, रूसो, कांट, रोलिंग, हीगल, शोपेनहावर, ह्यूम, मिल, अरविन स्पेन्सर, शैली, टेनीकल, वर्ड्सवर्थ, न्यूमैन रस्किन, अर्नोल्ड, टालस्टाय, डंटन, सेंटसबरी, एम्बर क्राम्बी, बर्स, फोल्ड, मिल्टन तथा रिचर्ड्स आदि प्रमुख हैं।

इनमें से कुछ कलावादियों को छोड़कर ज्यादातर लोकवादी हैं। इसी पृष्ठभूमि के कारण ही आचार्य रामचंद्र शुक्ल में 'काव्य में लोक मंगल' के सिद्धांत हेतु 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' नामक लिखे गए निबंध में संपूर्ण काव्य का वर्गीकरण इसी आधार को लेकर किया है- ज्ञानियों की परवाह न करते हुए लोक जीवन पर ध्यान देते हुए शुक्ल ने काव्य को दो भागों में वर्गीकृत किया है-

1. आनंद की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले
2. आनंद की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को चलने वाले

आनंद की साधना या प्रयत्न-पक्ष के काव्यों में रामायण, महाभारत, रघुवंश, शिशुपालवध, किरातार्जुनीयम्, हिंदी में रामचरितमानस, पद्मावत (उत्तरार्द्ध), हम्मीर रासो, पृथ्वीराज रासो, छत्रप्रकाश इत्यादि प्रबंध काव्य, भूषण आदि कवियों के वीर रसात्मक मुक्तक तथा आल्हा आदि प्रचलित वीर गाथात्मक गीत। उर्दू के वीर रसात्मक मरसिये। यूरोपीय भाषाओं में इलियट, ओडेसी, पैराडाइज लास्ट, रिवोल्ट ऑफ इसलाम इत्यादि प्रबंध काव्य तथा पुराने बैलड।

आनंद की सिद्धावस्था का उपभोग-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों में प्रमुख हैं आर्या सप्तशती, गाथा सप्तशती, अमरशतक तथा गीत गोविंद। हिंदी में सूरसागर, कृष्ण भक्त कवियों की पदावली, बिहारी सतसई, रीतकाल के रासपंचाध्यायी, ऐसे वर्णनात्मक काव्य तथा आजकल की अधिकांश छायावादी कविताएं।

4.4.2 आकर्षण-शक्ति सिद्धांत

साहित्य के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए दंडी, वामन, राजशेखर, कुंतक, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि विभिन्न काव्यशास्त्रियों ने जो भी परिभाषाएं दीं और काव्य की जो भी विशेषताएं बताईं उनसे यह स्पष्ट होता है कि साहित्य में सौंदर्य का आकर्षण होता है। रीति, गुण और अलंकार आदि का लक्ष्य साहित्य में सौंदर्य या आकर्षण उत्पन्न करना है। आकर्षण-शक्ति के फलस्वरूप ही साहित्य पाठक को अपनी ओर आकर्षित करता चलता है। डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त ने अपनी पुस्तक 'भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धांत' में लिखा है कि साहित्य की तीनों विशेषताओं रसात्मकता, रमणीयता और आनंद का समन्वय करते हुए 'साहित्य विज्ञान' में साहित्य की सामान्य परिभाषा इस प्रकार दी गई है– "साहित्य भाषा के माध्यम से रचित वह सौंदर्य या आकर्षण से युक्त रचना है जिसके अर्थ-बोध से सामान्य पाठक को आनंद की अनुभूति होती है।"

आकर्षण-शक्ति सिद्धांत के अनुसार कथ्य या द्रव्य का रूपांतरण कवि के द्वारा इस प्रकार होना चाहिए कि उसकी शक्ति जाग्रत एवं उद्दीपन होकर पाठक को आकर्षित कर सके। इस सिद्धांत के अनुसार विचार-प्रधान साहित्य का भी उतना ही महत्व है जितना भाव-प्रधान साहित्य का। दोनों में ही एक के बाद एक बौद्धिक एवं भावात्मक आकर्षण की उदीप्ति होती है। आकर्षण जितना ही प्रबल, सशक्त एवं गहरा होगा हमें अंतरतम तक प्रभावित कर काव्यात्मक आनंद अर्थात रस की अनुभूति कराएगा।

हम कह सकते हैं कि साहित्य की आत्मा या मूल शक्ति सौंदर्य या आकर्षण-शक्ति है। वस्तुत: साहित्य के प्रसंग का प्रयोग अभिधात्मक अर्थ में न होकर लाक्षणिक अर्थ में ही होता है। भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यकारों एवं आलोचकों ने समय-समय पर 'आकर्षण' एवं 'आकर्षण-शक्ति' का उल्लेख किया है। भारतीय आचार्यों में भामह, दंडी, रुय्यक, रामचंद्र शुक्ल, डॉ. श्यामसुंदरदास, डॉ. गुलाबराय, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. नगेंद्र, सुमित्रानंदन पंत, प्रभृति ने तथा पाश्चात्य लेखकों में लोंजाइनस, होरेस, दमित्रियस, क्विण्टिलियन, पोप, कोलरिज, मैथ्यू आर्नल्ड, वाल्टरपेटर आदि ने साहित्य विवेचन के प्रसंग में आकर्षण-शक्ति का उल्लेख करते हुए इसके अस्तित्व को मान्यता प्रदान की है। आकर्षण को लेकर कुछ विद्वानों के मत इस प्रकार हैं–

डॉ. नगेंद्र के शब्दों में, "...काव्य में घटना हमको निश्चय ही 'आकृष्ट' करती है। ...किंतु इस 'आकर्षण' का रहस्य घटना की क्रिया प्रतिक्रिया में न होकर उसमें निहित मानव तत्व एवं भाव में होता है।"

सुमित्रानंदन पंत के शब्दों में, "...कविता की भाषा का प्रमाण राग है। 'राग' का अर्थ है 'आकर्षण', यह वह शक्ति है जिसके विद्युतस्पर्श से खिंचकर हम शब्दों की आत्मा तक पहुंचते हैं।"

लोंजाइनस के अनुसार, "पाठक कुछ तो घटनाओं के चयन से 'आकर्षित' होता है और कुछ उनके पारस्परिक संघटन कौशल से।"

होरेस के शब्दों में– "कविताओं का सुंदर होना ही पर्याप्त नहीं, वे 'आकर्षक' भी होनी चाहिए उनमें ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि श्रोता के मन को जिधर चाहे खींच लें।"

दमित्रियस के अनुसार, "प्रायः विषय-वस्तु 'आकर्षणहीन' और विकर्षक होती है, किंतु लेखक उसे अपनी चारुता का स्पर्श प्रदान करता है।

क्विण्टिलियन के शब्दों में, "अलंकारों की सबसे बड़ी शक्ति अभिभाषण को 'आकर्षण' युक्त बना देना है।"

आकर्षण का उल्लेख यत्र-तत्र करने के बाद भी अभी तक किसी ने भी इस काव्यगत आकर्षण-शक्ति के रहस्य को उद्घाटित कर 'आकर्षण-शक्ति' जैसा सिद्धांत स्थापित करने का प्रयास नहीं किया। बिना किसी पूर्व प्रचलित सिद्धांत के आकर्षण-शक्ति की चर्चा होना इस बात का प्रमाण है कि यह एक सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक तत्व है जिसे बिना प्रतिपादित सिद्धांत के मान्यता प्राप्त है। पर साहित्य की मूल शक्ति को और अधिक स्पष्टता एवं गंभीरता से समझने के लिए आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के आधार पर इसके स्वरूप को समझना आवश्यक है।

आकर्षण-शक्ति का वैज्ञानिक आधार

आकर्षण-शक्ति सिद्धांत आधुनिक विज्ञान के सिद्धांतों पर आधारित है। भौतिक विज्ञान के अनुसार ब्रह्मांड के सभी पदार्थों में दो आधारभूत तत्वों का अस्तित्व है–द्रव्य (Matter) और शक्ति (Energy)। ये दोनों तत्व भी मूलतः एक हैं क्योंकि समस्त द्रव्य का रूपांतर शक्ति में तथा शक्ति का रूपांतर द्रव्य में होता रहता है। सबके मूल में एक तत्व शक्ति ही है। यह शक्ति ब्रह्मांड के कण-कण में व्याप्त है तथा समय-समय पर विभिन्न तत्वों एवं पदार्थों के रूप में परिवर्तित होती रहती है। ब्रह्मांड में व्याप्त शक्ति को न तो कम किया जा सकता है और न ही इसमें वृद्धि की जा सकती है और न ही इसे नष्ट किया जा सकता है। यह शक्ति अनंत, अक्षय और अमर है। इस शक्ति की दो अवस्थाएं होती हैं–1. सक्रिय और 2. निष्क्रिय। इसी को हम 'जाग्रत' एवं 'सुषुप्त' अवस्था कह सकते हैं। जब भी शक्ति जाग्रत एवं सक्रिय होती है तो वह एक साथ दो रूपों में कार्य करती है–आकर्षण एवं विकर्षण। एक दिशा का विकर्षण ही दूसरी दिशा में आकर्षण है, अतः संक्षेप में शक्ति के सभी सक्रिय रूपों का आकर्षण-शक्ति की संज्ञा देना उचित रहेगा।

ब्रह्मांड में व्याप्त यह आकर्षण-शक्ति अलग-अलग क्षेत्रों, स्तरों व माध्यमों में अलग-अलग रूपों में कार्य करती है जिससे इस एक शक्ति को अनेक नाम दिए जाते हैं– यथा– गुरुत्वाकर्षण शक्ति, चुंबक शक्ति, विद्युत शक्ति, आणविक शक्ति, यौनाकर्षण शक्ति, मानसिक शक्ति आदि। ये सभी शक्तियां आकर्षण-विकर्षण के रूप में कार्य करती हैं तथा इनकी प्रवृत्तियां समान हैं।

भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान एवं मनोविज्ञान के आधार पर शक्ति के विभिन्न रूपों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद आकर्षण-शक्ति की आठ प्रवृत्तियां ऐसी हैं जो प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में उपलब्ध होती हैं।

गणपति चंद्र गुप्त ने अपनी पुस्तक 'साहित्यिक निबंध' में आकर्षण-शक्ति के आठ स्वरूप निर्धारित किये हैं, ये हैं–

1. शक्ति सदा आकर्षण-विकर्षण के रूप में कार्य करती है।
2. शक्ति का संगठन त्रिगुणात्मक तत्वों के रूप में होता है जिन्हें धनात्मक (Positive), ऋणात्मक (Negative) एवं उभयात्मक (Natural) तत्वों की संज्ञा दी जा सकती है।

3. शक्ति के धनात्मक एवं ऋणात्मक तत्वों में परस्पर आकर्षण रहता है– जबकि स्वजाति के प्रति विकर्षण रहता है।

4. शक्ति की दो अवस्थाएं होती हैं– जाग्रत एवं सुषुप्त। जाग्रत अवस्था में शक्ति कार्य करती है और सुषुप्तावस्था में निष्क्रिय हो जाती है। शक्ति के जब धनात्मक एवं ऋणात्मक तत्वों में परस्पर संतुलन या साम्य रहता है तो शक्ति निष्क्रिय रहती है जबकि इस संतुलन के भंग हो जाने पर शक्ति जाग्रत एवं सक्रिय हो जाती है।

5. सक्रिय हो जाने के बाद शक्ति चार प्रक्रियाओं के रूप में कार्य करती है– संपर्क स्थापना या संयोजन, संप्रेषण, द्रवण और अभिव्यक्ति।

6. आकर्षण-शक्ति विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूपों में कार्य करती है, एक स्तर पर कार्य करने वाला रूप दूसरे स्तर के लिए प्रायः अनुपयोगी हो जाता है।

7. आकर्षण-शक्ति सदा वक्र एवं चक्राकार गति से आवर्तन-परिवर्तन के रूप में आगे बढ़ती है।

8. शक्ति का लक्ष्य सदा अपूर्णता से पूर्णता की ओर वैषम्य से साम्य की ओर तथा असंतुलन से संतुलन की ओर अग्रसर होने का रहता है।

आकर्षण-शक्ति की उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियां साहित्य की शक्ति में भी उपलब्ध होती हैं।

साहित्य की आकर्षण-शक्ति

साहित्य की आकर्षण-शक्ति विश्व में व्याप्त शक्ति का ही एक रूप है। जिस प्रकार वैज्ञानिक विभिन्न भौतिक पदार्थों से उनमें निहित शक्ति को जगाकर अपने लक्ष्य की पूर्ति करता है, उसी प्रकार साहित्यकार भी विभिन्न मानसिक तत्वों की शक्ति को जगाकर उसे एक ऐसा रूप देता है जिसे हम साहित्य कहते हैं। साहित्यकार का द्रव्य मानसिक क्षेत्र का होता है तथा उसका माध्यम भाषा का होता है अतः उसकी कार्य-प्रणाली अत्यंत सूक्ष्म एवं अदृश्य होती है।

साहित्यकार द्वारा प्रयुक्त द्रव्य को भी प्रमुख रूप से तीन तत्वों में विभिक्त किया जाता है–(1) भाव, (2) विचार, (3) कल्पना। ये तत्व क्रमशः धनात्मक, ऋणात्मक एवं उभयात्मक कोटि के कहे जा सकते हैं। साहित्य की आकर्षण-शक्ति को उद्दीप्त करने के लिए धनात्मक एवं ऋणात्मक तत्वों का संयोग ही पर्याप्त नहीं है, अपितु कल्पनाशक्ति का जागरण भी अपेक्षित है। भावों और विचारों का संपर्क तो सामान्य जीवन में भी रहता है, किंतु कला और साहित्य में कल्पना की शक्ति सर्वाधिक सक्रिय रहती है जिससे कटु भाव और शुष्क विचार भी आकर्षक बन जाते हैं। इसके साथ ही यह भी महत्वपूर्ण है कि साहित्य में कोरे भाव, कोरे विचार या कोरी कल्पना शक्ति से आकर्षण-शक्ति की उद्दीप्ति संभव नहीं, अपितु इनमें से एक का दूसरे के साथ संपर्क एवं सहयोग अपेक्षित है क्योंकि आकर्षण-शक्ति की यह प्रवृत्ति है कि वह विरोधी तत्वों के संपर्क से ही उद्दीप्त होती है। उदाहरण के लिए काले रंग और पीले रंग में या सफेद और नीले में परस्पर विरोध है, अतः चित्रकार इन विरोधी रंगों के संपर्क से ही आकर्षण की उद्दीप्ति करता है। यही बात साहित्य की शक्ति पर लागू होती है।

अलग-अलग रचनाओं में भाव, विचार और कल्पना की मात्रा अलग-अलग होती है। किसी में भाव की प्रमुखता होती है तो किसी में विचार की और किसी में कल्पना की तथा

शेष तत्व गौण रूप में होते हैं। बिंब-विधान, लक्षणा शक्ति एवं व्यंजना शक्ति के आधार पर आकर्षण उद्दीप्त होता है। साहित्य की आकर्षण-शक्ति के भी तीन भेद हो जाते हैं– भावनात्मक आकर्षण, बौद्धिक आकर्षण और कल्पनात्मक आकर्षण या कलात्मक आकर्षण।

1. **भावात्मक आकर्षण–** आचार्य भरत मुनि ने साहित्य का लक्ष्य भावानुभूति माना और भावों को दो वर्गों में विभाजित किया–संचारी और स्थायी। भारतीय आचार्यों ने भावों के तीन अंगों का विश्लेषन किया है जो काव्य के भावात्मक भाव को बढ़ाते हैं। उदाहरण–

बिरहिन ऊभी पंथ सिरि पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कब रे मिलेंगे आइ।। –कबीर

इन पंक्तियों में कवि ने अपनी विरह-वेदना को सहज एवं स्वाभाविक रूप में प्रकट किया है कि किस प्रकार विरहणी नायिका रास्ते से गुजरते हुए पथिक के पास दौड़कर जाकर अपने प्रियतम के आने का समाचार पूछती है। वह सोचती है जो भी पथिक आ रहा है उसके प्रिय का संदेश लेकर ही आ रहा है। कबीर के इन उद्‌गारों में भावात्मक आकर्षण की उद्दीप्ति अपने चरम रूप में हुई है।

2. **बौद्धिक आकर्षण–** बुद्धि का संबंध विचारों और सिद्धांतों से होता है। साहित्य में तथ्यों, विचारों और सिद्धांतों का भी समावेश किया जाता है। इनके अभाव में कोरी भावनाओं का स्पंदन दुखी का विलाप बन जाएगा तथा बुद्धिशून्य कोरी कल्पना में और पागल के प्रलाप में कोई अंतर शेष नहीं रह जाएगा। साहित्य में वस्तुओं और घटनाओं का चित्रण उनके उचित रूप में ही किया जाता है। कथा-वस्तु की सूक्ष्म रेखाओं के निर्माण के लिए प्रत्येक प्रबंधकार, कहानीकार और उपन्यासकार को बुद्धि का प्रयोग करना पड़ता है।

साहित्य में विचारों को कहां तक स्थान देना चाहिए? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। विचारों का चित्रण उसी सीमा तक होना चाहिए, जहां तक वे रचना के भाव सौंदर्य में बाधक न हों। उदाहरण–

(क) *करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।*
रसरी आवत जात ते सिल पै परत निसान।।

(ख) *सबै सहायक सबल के कोउ न निबल सहाय।*
पवन जगावत आग को दीपहिं देत बुझाय।।

इन दोनों उदाहरणों में बहुत ही सहजता से गंभीर बातें कह दी गई हैं। पहले में अभ्यास करने से मूर्ख व्यक्ति भी ज्ञानी बन सकता है, जिस प्रकार रस्सी को बार-बार पत्थर पर घिसने से वह अपनी छाप पत्थर पर अवश्य छोड़ती है। अंग्रेजी में भी 'Practice make a man perfect' कहा जाता है। दूसरे उदाहरण में इस तथ्य को उजागर किया गया है कि उगते सूर्य को सभी सलाम करते हैं अर्थात जो बलशाली होता है उसकी सहायता के लिए लोग आगे आते हैं लेकिन निर्बल को और कुचल दिया जाता है, जैसे हवा आग को तो और भी तेज कर देती है जबकि छोटे से दीपक को बुझा देती है।

3. **कल्पनात्मक या कलात्मक आकर्षण–** साहित्य में भावनाओं का चित्रण कल्पनाशक्ति के प्रयोग के द्वारा ही संपन्न होता है। एक साधारण से साधारण घटना को भी कवि कल्पना के रंग में रंगकर ऐसे प्रस्तुत करता है कि वह हमारे हृदय को आकर्षित कर लेती है। उदाहरण के लिए हम एक समाचारपत्र में पढ़ते हैं कि जापान में एक कारखाने में आग लग गई जिसमें पांच हजार लोग काम करते थे। इस समाचार को पढ़कर हमारे मस्तिष्क में थोड़ी हलचल भले ही हो जाए, किंतु उसका इतना गहरा प्रभाव नहीं पड़ेगा कि हम शोक से अभिभूत होकर आंसू बहाने लग जाएं। किंतु जब लेखक इसी घटना को कल्पना के द्वारा चित्रित करके हमारे सामने प्रस्तुत करेगा तो चार हजार क्या पांच व्यक्तियों के मरने की घटना हमारे हृदय में करुणा की शत-शत धाराएं उद्वेलित कर सकती हैं। वह हमें बताएगा कि काम करने वाले लोग कौन-कौन थे? अपनी रोजी-रोटी के लिए कितने बजे सुबह से शाम तक काम करते थे। उनके हृदय में अपने प्रिय जनों के मिलन की उत्कंठा किस प्रकार उद्वेलित हो रही थी, वे कैसे-कैसे सपने संजोए हुए थे, उनके घर पर उनकी असहाय वृद्धा मां या चिरवियोगिनी पत्नी या दर्शनों की लालसा से विभोर छोटे-छोटे भोले बालक किस प्रकार प्रतीक्षा कर रहे थे, जब कारखाने में आग लगी तो उनकी चीख-पुकार बढ़ती जा रही थी। जीवन के वे किस प्रकार हाहाकार कर रहे थे। उनके आश्रितों की क्या दशा हो गई थी। कवि अपनी कल्पना के बल पर दूसरों के दुख-सुख और दूसरों की अनुभूतियों का चित्रण इस प्रकार कर देता है कि वह हमारा दुख-सुख बन जाए।

काव्य में सौंदर्य और चमत्कार की सृष्टि भी कल्पना के द्वारा ही की जाती है। न जाने हमारे कितने कवियों ने नारी की सूक्ष्म छवि के अंकन में अपनी अद्भुत कल्पना का परिचय दिया है। संस्कृत एवं हिंदी साहित्य में महाकवि कालिदास, भर्तृहरि, विद्यापति, जायसी, कबीर, केशव, बिहारी, पद्मकार, भारतेंदु, प्रसाद, पंत और महादेवी ने कल्पना के चमत्कार दिखाए हैं।

उदाहरण– (क) *माली आवत देखि के कलियां करैं पुकार।*
फूले-फूले चुनि लियें काल हमारी बार।। –कबीर

(ख) मृग-मरीचिका के चिर पथ पर,
सुख आता प्यासों के पग धर,
रुद्ध हृदय के पट लेता कर,
गर्वित कहता "मैं मधु हूँ मुझसे
क्या पतझड़ का नाता?" – महादेवी

इस प्रकार साहित्य की आकर्षण-शक्ति साहित्यकार और पाठक के मन में क्रमशः चार प्रक्रियाओं के रूप में कार्य करती है–(1) संयोजन, (2) संप्रेषण, (3) द्रवण और (4) अभिव्यक्ति। आकर्षण-शक्ति के कारण ही कवि और पाठक की सर्वप्रथम विषय-वस्तु में रुचि उत्पन्न होती है जिससे उनका विषय के साथ संपर्क स्थापना या संयोजन होता है, तदनन्तर विषय के साथ तादात्म्य स्थापित होता है जिसे संप्रेषण की प्रक्रिया कहा जा सकता है। संप्रेषण के अनन्तर क्रमशः द्रवण एवं अभिव्यक्ति की प्रक्रियाएं संपन्न होती हैं जिनके द्वारा साहित्यकार एवं पाठक की अंतश्चेतना द्रवित होकर व्यक्त होने लगती है। साहित्यकार में यह

अभिव्यक्ति जहां रचना के रूप में होती है, वहीं पाठक में हर्ष, उल्लास एवं आनंद की अभिव्यक्ति के रूप में होती है। इस प्रकार ये चारों प्रक्रियाएं, क्रमशः पहले साहित्यकार के मन में तथा फिर पाठक के मन में संपादित होती है। प्राचीन और अर्वाचीन साहित्यशास्त्र का साधारणीकरण, तादात्म्य विवेचन, संप्रेषण, अभिव्यंजना आदि की क्रियाएं इन्हीं चारों प्रक्रियाओं के विभिन्न पक्षों को सूचित करती हैं।

इस प्रकार आकर्षण-शक्ति सिद्धांत के अनुसार साहित्य की साहित्यिकता का मूल आधार साहित्य द्वारा उद्दीप्त आकर्षण-शक्ति ही है। अन्य सिद्धांतों के साथ भी इस सिद्धांत का मेल हो जाता है। रस वस्तुतः आकर्षण की ही व्यापक एवं गंभीर अनुभूति है तो अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि आकर्षण की उद्दीप्ति के ही विभिन्न साधन हैं। वस्तुतः यही आकर्षण-शक्ति काव्य की आत्मा या साहित्य की शक्ति है। पाश्चात्य आचार्य हॉरेस ने ठीक कहा था–"काव्य का सुंदर होना ही पर्याप्त नहीं है, वह आकर्षक भी होना चाहिए– उसमें ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि श्रोता के मन को जिधर चाहे खींच सके।"

4.5 रचना के तीन क्षण

रचना के तीन क्षणों से अभिप्राय है कि किसी भी रचना का सर्जन करने के समय रचनाकार को किन-किन स्थितियों से गुजरना पड़ता है। रचना चाहे वह कविता हो या कथा अथवा चित्र, मूर्ति आदि वह कृतिकार की कृति होती है। रचना की जमीन, सामग्री, साहचर्य, प्रेरणा, कल्पना जैसी शारीरिक मानसिक वृत्तियों के आनुपातिक उपयोग से यह वस्तु तैयार होती है। रचना उसकी समग्रता का नाम है– उसके भीतर कितने ही चरित्र, स्थितियां, घटनाएं, अनुमान, गतियां शामिल होती हैं। रचनाकार मूर्तिकार की तरह सृष्टि की सीधी सामग्री का उपयोग नहीं करता। वह दृश्य को नहीं उसकी संवेदित अवधारणाओं की सामग्री का उपयोग करता है। जैसे- मिट्टी, पानी, अग्नि, आकाश और हवा से उसकी वस्तु तैयार नहीं होती। उसकी वस्तु के प्राथमिक स्रोत हैं–रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द। ये स्रोत पंचभूतों की ऐंद्रिय अवधारणाएं ही हैं। ये ज्ञानेंद्रियां हैं। इन्हीं के जरिए वह भूतों को अपने भीतर जगह देता है। रचना में भूख या पानी शब्द आकृतियों और पदार्थों के प्रतिबिंब हैं। रचना की कर्मशाला रचयिता के मानस में है, इसलिए वह प्रतिबिंबों, प्रतिच्छायाओं का ही उपयोग कर सकता है। वह प्रतीकों, बिंबों, संकेतों के सहारे रचना को गढ़ता है। कल्पना आकृति देने में सहायक होती है। यह सब क्रिया रचनाकार के व्यक्तित्व के भीतर, व्यक्तित्व के जरिए और उसी में घटित होती है इस कारण यह प्रक्रिया उतनी प्रत्यक्ष और सरल नहीं है।

किसी भी रचना की व्युत्पत्ति का नाभि में विचार होता है और प्रकारांतर में रचना विचार को नये केंचुल में प्रस्तुत व परिपुष्ट करती रहती है। यह सार्वजनीन प्रक्रिया वैयक्तिक स्तर पर संभव और विभिन्न स्वरूपों में रूपायित होती रहती है।

रचना के तीन क्षण का मुक्तिबोध का सिद्धांत आज हिंदी साहित्य में बहुत प्रचलित है। रचना के ये तीन क्षण वस्तुतः रचना-प्रक्रिया के तीन सोपान हैं। मुक्तिबोध ने अपनी डायरी के 'तीसरा-क्षण' अंश तथा 'काव्य की रचना-प्रक्रिया' और 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष' निबंधों में इस पर विस्तार से विचार किया है। मुक्तिबोध पूर्णतया आत्मचेतस् कलाकार थे। सृजन के प्रसंग में वे प्रदत्त या मूड्स जैसी धारणाओं में विश्वास नहीं करते थे। कलाकार के

आत्मसंघर्ष की ही तरह उन्होंने अभिव्यक्ति के संघर्ष को भी बहुत महत्वपूर्ण माना है। उनके अनुसार, "कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण। दूसरा क्षण है उस अनुभव का अपने कसकते-दुखते हुए मूलों से पृथक हो जाना और एक फैंटेसी का रूप धारण कर लेना, मानो वह फैंटेसी अपनी आखों के सामने खड़ी हो। तीसरा और अंतिम क्षण है उस फैंटेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरंभ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता। शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया के भीतर जो प्रवाह बहता रहता है वह समग्र व्यक्तित्व और जीवन का प्रवाह होता है। प्रवाह में एक फैंटेसी अनवरत रूप से विकसित परिवर्तित होती आगे बढ़ती जाती है। इस प्रकार वह फैंटेसी अपने मूल रूप को बहुत कुछ त्यागती हुई नवीन रूप धारण करती है। जिस फैंटेसी को शब्दबद्ध करने का प्रयास किया जा रहा है वह फैंटेसी अपने मूल रूप से इतनी अधिक दूर चली जाती है कि यह कहना कठिन है कि फैंटेसी का यह नया रूप अपने मूल रूप की प्रतिकृति है। फैंटेसी को शब्दबद्ध करने की प्रक्रिया के दौरान जो-जो सृजन होता है– जिसके कारण कृति क्रमशः विकसित होती जाती है– वही कला का तीसरा और अंतिम क्षण है।"

मुक्तिबोध कला के पहले क्षण के बारे में आगे चलकर पुनः कहते हैं- "प्रथम क्षण निस्संदेह अनुभव का क्षण है। उसके बिना आवेग और आगे की गति असंभव है। मानसिक प्रक्रिया को आत्माभिव्यक्ति की ओर ले जाने के लिए आवश्यक पहला जबरदस्त धक्का यह प्रथम क्षण ही देता है। वह उस गति की दिशा निर्धारित करता है। साथ ही, वह उसके तत्व रूपायित करता है अर्थात वह उनको एक आकार प्रदान करता है। साथ ही, मजा यह है कि यह अनुभव विचित्र रूप से अन्य मनस्तत्वों से जुड़ता हुआ, मनस्पटल पर स्वयं को प्रक्षेपित कर स्वयं ही बदल जाता है।" 'नयी कविता का आत्म-संघर्ष निबंध' में वे इसे 'उद्घाटन-क्षण' कहते हुए लिखते हैं- "कल्पना का कार्य यहीं से शुरू हो जाता है। बोध पक्ष अर्थात ज्ञान-वृत्ति भी यहां सक्रिय हो उठती है।" मुक्तिबोध स्पष्ट करते हैं कि यह रोजमर्रा के अनुभव से भिन्न अनुभव है। अनुभव की जैविक आत्मपरकता से भिन्न इस कला अनुभव की चेतना के नक्शे पर ठीक-ठीक स्थिति और गति बताना मुश्किल है। "पहले क्षण में ही भोक्ता और दर्शक के गुणों का आविर्भाव होना चाहिए। दूसरे क्षण में जो फैंटेसी उत्पन्न होती है...उस फैंटेसी के दर्शक की जो महत्व-प्रतीति होती है, उसके बीज पहले क्षण में ही होना आवश्यक है।" स्पष्ट है कि यह चमत्कारिक रूप से अद्वितीय नहीं, बल्कि कला के क्षण में साधारण अनुभव के महत्वपूर्ण अनुभव में बदल जाने की स्थिति है।

कला निर्माण के दूसरे क्षण की चर्चा में उन्होंने लिखा है- "इस अनुभव का अपने कसकते दुखते हुए मूलों से पृथक हो जाना और एक ऐसी फैंटेसी का रूप धारण कर लेना, मानो वह फैंटेसी अपनी आंखों के सामने ही खड़ी हो।" कला के दूसरे क्षण में दो स्थितियां हैं। ये दो स्थितियां काल-विभाजित नहीं हैं। पहली स्थिति में अनुभव का निर्वैयक्तिक होना है और फिर निर्वैयक्तिक अनुभव का फैंटेसी में रूपांतरित हो जाना है। यह फैंटेसी न केवल वास्तविक अनुभवों को बदल देती है वरन कलाकार के व्यक्तित्व के साथ प्रवाहित होती हुई उसके व्यक्ति का संस्कार भी करती है। इस फैंटेसी प्रवाह में भी द्वंद्वात्मकता है। स्थितिग्रस्त संवेदनाएं और स्थिति मुक्त दृष्टि परस्पर प्रतिक्रियाएं करती हैं। इस विरोधी घात-प्रतिघात से यह क्षण परिष्कृत होता हुआ आगे प्रवाहमान रहता है। मुक्तिबोध लिखते हैं- "तब आत्मपरकता में भी एक निर्वैयक्तिकता और निर्वैयक्तिकता में भी एक आत्मपरकता उत्पन्न

हो जाती है...दूसरे शब्दों में वे अपने-अपने गुणों को एक-दूसरे को प्रदान कर देते हैं। और तीसरा अंतिम क्षण उस फैंटेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरंभ और उसकी परिपूर्णावस्था तक गतिमानता है।

कला का तीसरा और अंतिम पक्ष मुक्तिबोध के अनुसार रचना प्रक्रिया में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यहां पर एक तनावपूर्ण स्थिति पैदा होती है। जैसे ही लेखक फैंटेसी को शब्दबद्ध करने लगता है, उसका रंग घुलने लगता है। फैंटेसी प्रभावित होने लगती है। अनवरत रूप से विकसित परिवर्तित होने लगती है। यही नहीं शब्दबद्ध करने की प्रक्रिया के बीच फैंटेसी में ऐसे अनेक तत्व शामिल हो जाते हैं जो उसे निरंतर संशोधित करते हैं। फैंटेसी के भीतर की दिशा और परिणति इस मर्म तत्व पर आधारित है। इस मर्म के उद्घाटन के वक्त अनेक चित्र, स्वर और भाव रचनाकार के सामने तैर आते हैं। इनमें से संवेदनात्मक उद्देश्य के निर्वाह के अनुकूल भाव संपादन तथा सार्थक संप्रेषण के अनुकूल शब्द चयन रचनाकार के लिए कठिन चुनौती बन जाते हैं जिस कारण तनाव की स्थिति बन जाती है।

कला के तीसरे क्षण में सृजन प्रक्रिया तीव्र हो जाती है। यहीं से अनुभव प्रसूत फैंटेसी साहित्यिक कृति का रूप धारण करने लगती है। मुक्तिबोध के अनुसार, "कला के तीसरे क्षण में सृजन प्रक्रिया जोरों से गतिमान होती है। कला को शब्द साधना द्वारा नये-नये अर्थ स्पंदन मिलने लगते हैं। पुरानी फैंटेसी अब अधिक संपन्न, समृद्ध और सार्वजनीन हो जाती है। यह सार्वजनीनता अभिव्यक्ति प्रयत्न के दौरान शब्दों के अर्थ स्पंदनों के द्वारा पैदा होती है। अर्थ स्पंदनों के पीछे सार्वजनिक सामाजिक अनुभवों की परंपरा होती है। इसलिए अर्थ परंपराएं न केवल मूल फैंटेसी को काट देती हैं, तराशती हैं, रंग उड़ा देती हैं, वरन उसके साथ ही वे नया रंग चढ़ा देती हैं, नये भावों और प्रवाहों से उसे संपन्न करती हैं, उसके अर्थ क्षेत्र का विस्तार कर देती हैं।"

इस प्रकार भाव और भाषा के बीच का यह द्वंद्व तीसरे क्षण की सबसे बड़ी उपलब्धि है। इन दोनों की पारस्परिक क्रिया-प्रक्रिया इतनी उलझी हुई है कि वे इन दोनों को बदलते रहते हैं। इनका संशोधन करते रहते हैं। वस्तुतः भाषा और भाव के बीच का यह द्वंद्व गुणात्मक होता है। भाषा एक परंपरा के रूप में फैंटेसी के मूल रंग को विस्तृत कर देती है, किंतु साथ ही उसे संशोधित भी कर देती है। फैंटेसी अपने मूल रंगों के निर्वाह के लिए भाषा पर दबाव डालती है। उसके शब्द चयन एवं प्रयोगों को नये अर्थों एवं सौंदर्य के साथ शामिल करती है।

मुक्तिबोध आत्मसंघर्ष के कवि हैं। उन्होंने रचना प्रक्रिया के दौरान होने वाले प्रभाव संगठन और अभिव्यक्ति की गति मानस तथा उसकी समग्रता को स्पष्ट करने के लिए आभ्यंतरीकरण और बाह्यीकरण को एक रूप माना है। मुक्तिबोध के अनुसार, "प्रभाव ग्रहण या संगठन आभ्यंतरीकरण तथा कृति रूप में उसे मूर्त करने की प्रक्रिया बाह्यीकरण है। रचनाकार के मन में आभ्यंतरीकरण के द्वारा मनुष्य जीवन संपन्न, समृद्ध और विकसित होता है। हमारी भाव-संपदा, ज्ञान-संपदा और अनुभव समृद्धि उस अंतरंग व्यवस्था का ही अभिन्न अंग है जो हमने बाह्य जीवन जगत के आभ्यंतरीकरण से प्राप्त की है। कला साहित्य आदि में जीवन की पुनर्रचना होती है।" इसलिए कहा जाता है, कृति वैयक्तिक होते हुए भी निर्वैयक्तिक होती है।

मुक्तिबोध की राय में कृति का मूल आधार जीवन-यथार्थ है। ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान से उसे अधिकाधिक हृदयंगम करने और निकट लाने का अवसर प्रदान

करता है। उनके अनुसार जीवन-ज्ञान-संवेदन की समन्वित उपस्थिति में महत्वपूर्ण रचना जन्म लेती है। हृदय और बुद्धि अपना अलग-अलग अस्तित्व मिटाकर एक रूप हो जाते हैं और ये दोनों अंतरात्मा के पर्याय रूप में वर्तमान रहते हैं।

इस प्रकार मुक्तिबोध द्वारा रचना प्रक्रिया के विशेष संदर्भ में उल्लिखित तीन क्षणों को साहित्य जगत में महत्वपूर्ण माना जाता है।

मुक्तिबोध के अलावा रचना प्रक्रिया के क्षणों को अनेक विद्वानों ने अपने ढंग से परिभाषित किया है। यहां कुछ का उल्लेख किया जा रहा है–

आचार्य रामचंद्र शुक्ल कहते हैं कविता के सर्जनात्मक क्षणों में रचनाकार को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता, वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता में लीन किये रहता है, उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति बन जाती है।

डॉ. रामविलास शर्मा ने कहा है कि "रूप, भावना तथा विचार की एकता से कला सृष्टि संभव है।"

विद्यानिवास मिश्र 'जीवन अपनी देहरी पर' में लिखते हैं कि प्रत्येक रचना के प्रणयन के समय साहित्यकार मृत्यु को प्राप्त होता है। उनके शब्दों में, "...क्योंकि हर रचना मृत्यु होती है, पर पूरी मृत्यु नहीं होती, रचनाकार कुछ न कुछ अवशिष्ट रह जाता है, बल्कि यों कहें जो अवशिष्ट रह जाता है वह रचनाकार नहीं है, बुरी तरह टूटा हुआ व्यक्ति है। जितनी बड़ी रचना करके आदमी बचता है उतना ही अधिक टूटकर बाहर निकलता है रचनाकार के रूप में वह ध्वस्त हो जाता है।"

प्रसिद्ध फ्रांसीसी साहित्यकार एवं समालोचक रोलांड बार्थेस ने अपने लेख 'लेखक की मृत्यु' शीर्षक में भी विद्यानिवास मिश्र की विचारधारा की पुष्टि की है। रोलांड लिखता है कि लेखन के भविष्य के लिए पाठक के जन्म की अनिवार्य शर्त लेखक की मृत्यु है। रचना चाहे पूर्णतावादी दृष्टि से निर्मित हो या विकासवादी दृष्टि से, दोनों में रूप के स्वरूप का निर्धारण अंतर्वस्तु से होता है।

कार्ल मार्क्स ने कला की रचना प्रक्रिया को मानवीय श्रम की विशिष्ट प्रक्रिया माना है। मार्क्स ने कला की रचना प्रक्रिया और मानवीय श्रम की प्रक्रिया के संबंध को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "श्रमिक (कलाकार) किसी वस्तु (कृति) के निर्माण के पहले उसकी धारणा निर्मित करता है। श्रम की प्रक्रिया (रचना प्रक्रिया) के अंत में जो फल (कृति) प्राप्त होती है उसकी मूल धारणा श्रमिक के मन में पहले विद्यमान होती है। निर्माण प्रक्रिया के दौरान वह न केवल उत्पादन के उपादान (भाषा) के रूप को परिवर्तित करता है बल्कि परिवर्तित रूप में वह अपने प्रयोजन को ही साकार करता है। अपने प्रयोजन के प्रति वह निर्माण काल में निरंतर सचेत रहता है और प्रयोजन के अनुरूप ही उसकी क्रिया की प्रक्रिया और पद्धति का विकास होता है। कृति की रचना के 'पहले' रचनाकार उसकी धारणा निर्मित करता है। मनुष्य भाषा में ही सोचता है इसलिए कृति की धारणा के निर्माण में भी भाषा की भूमिका होती है। यह भाषा रचनाकार के जीवन की भाषा होती है। अपने जीवन व्यवहार की भाषा में कृति की धारणा का निर्माण रचनाकार अपने रचनात्मक प्रयोजन के अनुसार करता है और रचनात्मक प्रयोजन में उसकी विचारधारा व्यक्त होती है। इस प्रकार रचना प्रक्रिया के आरंभ से ही भाषा, कृति की धारणा और विचारधारा का सहअस्तित्व होता है। रचना प्रक्रिया

के विकास की 'दूसरी' अवस्था यानी कृति के निर्माण की अवस्था में, भाषा का अभिव्यंजक रूप विकसित होता है। इसमें रचनात्मक प्रयोजन को साकार करने के लिए रचनाकार भाषा की प्रतिनिधिकता और अपनी सृजनशीलता के योग से रचना की भाषा का निर्माण करता है। इस स्थिति में अंतर्वस्तु और भाषा का विकास साथ साथ होता है। भाषा के निर्माण की प्रक्रिया में रचनाकार जीवन व्यवहार की भाषा और साहित्य परंपरा से प्राप्त भाषा से संग्रह और त्याग की प्रक्रिया अपनाते हुए रचना की भाषा तथा उसकी संप्रेषणीयता निर्मित करता है। इसी अवस्था में निर्मित कृति में रचनाकार का रचनात्मक प्रयोजन साकार होता है और उस प्रयोजन के अनुरूप रचना के रूप, शैली और भाषा का विकास होता है।" (कैपिटल, खं. 1, न्यूयार्क, 1977, पृ. 283-84)

इस प्रकार हम देखते हैं कि सृजन प्रक्रिया के दौरान प्रत्येक रचनाकार महत्वपूर्ण अनुभवों से गुजरता है। इसे हम काव्य सृजन की प्रसव पीड़ा के क्षण कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

4.6 स्वच्छंदतावादी आलोचना

स्वच्छंदतावादी समीक्षा पद्धति 'वाद' न होकर एक 'दृष्टि' है। यह दृष्टि प्राचीन रूढ़ियों से मुक्ति पाने के लिए अपना स्वतंत्र मार्ग अन्वेषित करती है। इस समीक्षा में जीवन के प्रति एक ऐसा भावमय दृष्टिकोण है जो 'अनुभूति' को केंद्र में रखकर पनपता है। हिंदी में जिन्हें स्वच्छंदतावादी आलोचक कहा जाता है उनसे तात्पर्य यही है कि वे प्राचीन सिद्धांतों की रूढ़ियों से विद्रोह करते हैं और देश और काल की नवीन चिंतन धाराओं से तालमेल बिठाते हुए स्वतंत्र चिंतन करने वाले आलोचक हैं। ऐसे समीक्षकों ने भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धांतों को नवीन चिंतन के परिप्रेक्ष्य में समझने-समझाने का प्रयास किया है। इसका कारण यह था कि हिंदी का अपना स्वतंत्र समीक्षा-शास्त्र विकसित हो सके।

पाश्चात्य जगत में स्वच्छंदतावादी चिंतन लंबी यात्राओं का इतिहास तो है ही, उसमें मानव को खोलने या मुक्त करने का भी प्रयास निहित है। मध्य युग में रोमांस शब्द का प्रयोग बोलियों के लिए आता था। लैटिन भाषा में इन सभी को 'रोमांसेज' कहा जाता था। इन 'रोमांस' बोलियों की कथाएं ही समय के साथ 'रोमांस' कथाएं कही जाने लगीं। इन 'रोमांस' कथाओं में साहस, शौर्य की वीर कथाएं रहती थीं। ये कथाएं भावुकता, रहस्यपरकता तथा मधुर प्रेम पर टिकी होती थीं और इनमें वास्तविकता का अभाव रहता था। इसीलिए कल्पना प्रधान भावुक साहित्य को शुरूआत में 'रोमांटिक' शब्द से व्यक्त किया गया है। आधुनिक साहित्य एवं समीक्षा में आकर इस शब्द का अर्थ-विस्तार हो जाता है। ध्यान देने वाली बात यह है कि आधुनिक रोमांटिक साहित्य में एक सी प्रवृत्तियां मौजूद नहीं है। प्राय: विरोधी प्रवृत्तियों से इसका विकास होता है। 18वीं 19वीं शताब्दी का स्वच्छंदतावादी आंदोलन (रोमांटिक मूवमेंट) एक विशेष परिस्थिति की टकराहट से जन्म लेता है। दबा हुआ मानव मन स्वयं को स्वच्छंद करने की कामना करता है। यही कामना समस्त रूढ़ियों के विरूद्ध विद्रोह कर देती है। इन विद्रोहियों को ही स्वच्छंदतावादी कहा जाता है। इसके पुरोधाओं में रूसो, श्लेगर, कांट, हीगल, क्रोचे प्रमुख हैं। इसमें लेसिंग का 'लाओकून' और ग्रीक के ला-जाइनस के 'उदात्त तत्व' सिद्धांत की भी महती भूमिका है।

4.6.1 परिभाषाएं एवं आधार

श्लेगल ने स्वच्छंदतावाद को परिभाषित करने का प्रयास किया पर वे असफल रहे। वे रोमांटिसिज्म शब्द का अर्थ तक स्पष्ट नहीं कर पाए। सन् 1948 में एफ. एल. ल्यूकस ने अपनी पुस्तक 'दि डिकलाइन एंड फाल आफ दि रोमांटिक आइडियल' में रोमांटिसिज्म की 11396 परिभाषाएं उपलब्ध होने की सूचनाएं दी। विचारणीय बात यह है कि इस शब्द का भिन्न से भिन्न अर्थों में प्रयोग हुआ है। पर इतना सत्य है कि ये कवि आलोचक 'संवेगों' को विशेष आदर देते हैं। इनकी मान्यता है कि सृजन-बुद्धि-चालित क्रिया न होकर हृदय से निकलने वाली सहजात क्रिया है।

शास्त्रीयवाद के नियम जब जकड़नें पैदा करते हैं तो स्वच्छंदतावाद उन्हें तोड़ देता है और स्वच्छंदतावाद जब नियमों से दूर हो अनियंत्रित होने लगता है तो शास्त्रीयवाद उसे नियंत्रित करता है। अतः कहीं न कहीं दोनों प्रवृतियां एक-दूसरे की विरोधी हैं। कलाकार के आंतरिक जगत की चिंता में दोनों ही रहते हैं। स्थायी गुणों से युक्त रचना प्रायः कालजयी होती है इसीलिए वह सभी कालों में पठन-पाठन के योग्य बन जाती है। 'क्लासिक' का सीधा अर्थ है- साहित्यिक परंपरा की महान रचना। यह साहित्यिक रचना कहीं न कहीं स्वच्छंदतावादी कृति के लिए एक उपजीव्य का कार्य करती है।

स्वच्छंदतावाद तथा यथार्थवाद में सामान्यतः सीधा विरोध है। एक आदर्शवादी मानववादी है। दूसरा भौतिकवादी और वास्तविकता को सब कुछ मानने वाला है। अपनी वृत्तियों से स्वच्छंदतावाद, मनोविश्लेषण शास्त्र की ओर झुकता है तथा मनोविश्लेषण शास्त्र की फ्रायडवादी धारणाओं के परिप्रेक्ष्य में ही वैयक्तितापरक तथा सामूहिक मन को समझता एवं समझाता है। इसीलिए संसार भर के स्वच्छंतावादी आलोचकों ने अपनी स्वच्छंदतावादी आलोचना में मनोविश्लेषण शास्त्र की प्रविधियां, आधारों तथा प्रवृतियों का आश्रय ग्रहण किया है। स्वयं पाश्चात्य आलोचक एफ. एल. ल्यूकस मानते थे कि रोमांटिसिज्म क्लासिसिज्म तथा रियलिज्म की मनोविश्लेषणवादी व्याख्या बहुत महत्वपूर्ण है। इस काव्य से प्रायः काम्य निष्कर्ष हाथ में आ जाते हैं।

विंकलमैन ने समीक्षा में सौंदर्यशास्त्र के समस्त तत्वों को प्रतिष्ठित किया है। इससे पूर्व फ्रांसिस बैकन, हाब्स, देकार्त आदि कला का मनोवैज्ञानिक मार्ग संकेतित कर चुके थे। किंतु स्वच्छंदतावादी युग के कलाकार ललित कलाओं के अंतर्संबंधों पर नये ढंग से विचार करने को भी बाध्य हुए। इस स्वच्छंदतावादी युग ने प्राचीन कला का पुनर्मूल्यांकन की दृष्टि से अध्ययन किया। स्वयं 'लाओकून' के लेखक ललित कलाओं में यूनानी अनुकरण के समर्थक थे। पर प्राचीन नियमों तथा सिद्धांतों की दुहाई देने के कारण उनके सिद्धांतों को शुद्ध रोमांटिक आलोचना नहीं माना जाता है।

जर्मन आलोचक शिलर ने शास्त्रीयतावादी तथा स्वच्छंदतावादी प्रवृतियों की चर्चा करते हुए प्रथम को सौंदर्य तथा दूसरे को शक्ति माना है। गेटे ने भी व्यक्तित्व के नये पक्षों से इस धारा को आगे बढ़ाया है। इस प्रकार कहा जा सकता है स्वच्छंदतावाद की पृष्ठभूमि पश्चिम पर टिकी हुई है।

4.6.2 मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

ल्यूकस ने यथार्थवाद, रोमांटिसिज्म तथा अभिजात्यवाद का अंतर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि हमारे प्राचीन संस्कार हमें रोमांटिसिज्म की ओर प्रेरित करते हैं। यथार्थ के प्रति हमारी रुचि हमें यथार्थवाद की ओर ले जाती है तथा सामाजिक सुस्थिरता के लिए हमारी चिंता हमें शास्त्रवाद की ओर ले जाती है। इसी के कारण हमें नियमों और परंपराओं का सम्मान करना पड़ता है। स्वच्छंदतावादी कवि नियमों और परंपराओं का उल्लंघन करता है। यथार्थ और समाज के प्रति विद्रोह करता है। तथ्यों, कर्तव्यों को स्वप्नों और भावोन्माद की वेदी पर बलिदान कर देता है। इन प्रवृत्तियों से पता चलता है कि स्वच्छंदतावादियों का मन शिशु की तरह सरल, अपरिष्कृत, असंस्कृत, मुक्त, जंगली के समान होता है; जो कल्पना लोक में विचरण करता है। अपनी ही दृष्टि से चीजों का आकलन करता है। अनियंत्रित भावनाओं में बहकता हुआ वह दूसरों की चिंता नहीं करता। जो आक्रमणकारी भाव बच्चों में होते हैं, वही प्रवृत्ति स्वच्छंदतावादियों में होती है। जिसके कारण वह परंपरा, नियम, तर्क, नियंत्रण सबके प्रति विद्रोह करता है। यह आक्रमणशीलता उसे प्रथमत: परपीड़न-रति (Sadism) की ओर ले जाती है जिसके कारण वह अपने प्रिय को दुख देता है या देने की कामना करता है फिर स्वपीड़न रति (Masochism) की ओर पहुंचता है और स्वयं को कष्ट देता है। प्रिय को दुख पहुंचाकर स्वयं दुखी होने की प्रवृत्ति सामान्यत: जन सामान्य में भी होती है पर स्वच्छंदतावादी इससे अधिक ग्रस्त रहता है। इन्हीं कारणों से ऐसा माना जाता है कि स्वच्छंदतावादी काव्य में विषाद यानी दु:ख के स्वर प्रबल होते हैं तथा व्यक्ति-प्रधान दृष्टिकोण को इसमें प्रधानता दी जाती है।

4.6.3 स्वच्छंदतावादी काव्य चिंतन की विशेषताएं

हिंदी के कई आधुनिक समीक्षक जिन्हें स्वच्छंदतावादी समीक्षक भी कहा जाता है, पहले कवि या लेखक रह चुके हैं। लेखन कार्य में प्रवृत्त होने के बाद ही उन्होंने आलोचना के क्षेत्र में कदम रखे। उनके काव्य चिंतन की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन यहां किया जा रहा है–

1. **विद्रोह की प्रवृत्ति**–अंग्रेजी स्वच्छंदतावाद का संबंध फ्रांसीसी राज्य क्रांति से था। अत: उसमें स्वतंत्रता एवं विद्रोह का भाव होना स्वाभाविक था। उसमें हमें भौतिक शक्तियों के अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध तथा नीति, धर्म, साहित्यिक परंपराओं और शास्त्रीय नियमों के प्रति भी विद्रोह दिखाई देता है। इस काव्य ने भाषा-शैली, विषय-वस्तु, छंदों के स्वरूप आदि के क्षेत्र में नये प्रयोग किए, नयी चिंतनधारा तथा नये भावोन्मेष से अनुप्राणित इस काव्य ने अभिजात्य के स्थान पर सामान्य को वर्ण्य बनाया। खंडहर, सूखी पत्ती, छाया, हवा, पानी, रेत जैसी साधारण वस्तुओं को वर्ण्य बनाया। इन्होंने बुद्धिवाद का विरोध किया। उदात्त को आवश्यक नहीं माना।
2. **कृत्रिमता से मुक्ति**–प्रकृति की ओर लौटने तथा साधारण, सरल के प्रति आग्रह ने स्वच्छंदतावादी कवियों को कृत्रिमता तथा समाज के आडंबरों से मुक्ति दी। इन्हीं भावों से प्रेरित होकर 'लिरिकल बैलेड्स' काव्य संग्रह लिखा गया। इन्होंने कृत्रिम, अयथार्थ लेखन शैली, मिथ्या दंभ के कारण अपने विचारों को और भावों को व्यक्त न करना जैसे आडंबरों का विरोध किया तथा सरल शैली में उन्मुक्त होकर अभिव्यक्ति की।

3. **मध्ययुग का प्रत्यावर्तन**–हौरेस-वाल्पोल, पर्सी आदि रचनाकारों की मध्ययुग के साहित्य और शिल्प कला के प्रति अत्यधिक रुचि थी। इस आकर्षण को रोमांटिक काव्यधारा के कवियों–कॉलरिज, शैली, कीट्स ने अधिक पुष्ट किया। 18 वीं सदी के साहित्यकार युगीन बौद्धिकता, विवेक की अधिकता और तर्क-वितर्कों से ऊबकर इससे मुक्ति पाने के लिए मध्ययुगीन प्रवृत्ति की ओर आकृष्ट हुए। उन्हें न केवल मुक्ति मिली बल्कि चित्रमयता की प्रवृत्ति भी प्राप्त हुई।

4. **कल्पना का प्राधान्य**–स्वच्छंदतावादी इस संसार से दूर रहना चाहता है तथा नवीन और अद्‌भुत के प्रति आकर्षित होता है। वह यथार्थ से दूर कल्पना लोक में विचरण करना चाहता है। सभी अंग्रेजी रोमैंटिक कवियों में कल्पना का प्राधान्य पाया जाता है। वे जब भी बाह्य स्थूल जगत के वैचारिक द्वंद्व में उलझते हैं, कल्पना उन्हें इस जगत के कठोर अनुभवों से दूर दूसरे लोक में अद्‌भुत ऐंद्रिय-लोक में ले जाती है। उसका मस्तिष्क सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों को तत्परता से पकड़ता है और वह उन्हीं भावों की सुंदर-गहन वीथियों में भटकता हुआ सुंदर अभिव्यक्ति प्रदान करता है। वह इंद्रधनुष को सतरंगी मनोहर पुंज ही नहीं बल्कि नयी स्फूर्ति और प्रेरणा देने वाला प्रेरक तत्व मानता है। उसे साधारण पदार्थों और दार्शनिक विचारों में पहले से अधिक गूढ़ अर्थ भरा प्रतीत होता है। उसकी कल्पना, हृदय की उदारता और रागात्मकता ने उसके दृष्टिकोण को परिवर्तित किया और प्रकृति उसे उपदेशक और शिक्षिका के रूप में दिखाई देने लगी। इसी कल्पना ने उसे रहस्यवादी बना दिया। उसे प्रकृति के कण-कण में ईश्वर की सत्ता का अनुभव होने लगा। वह प्रत्येक वस्तु को आध्यात्मिकता से जोड़कर देखने लगा। उसे पुष्पों में रहस्य दिखाई देता है। चिड़िया में छिपा कवि दिखाई देता है। कल्पना ने उसकी अभिव्यक्ति को अद्‌भुत, मर्मस्पर्शी बना दिया। हिंदी कवि पंत ने स्थूल के लिए सूक्ष्म का प्रयोग किया। इसी तरह पाश्चात्य कवि शैली लिखता है– like a poet hidden. In the light of thought. वह स्काई लार्क चिड़िया की तुलना विचारों में छिपे कवि से करता है, जैसे कवि की अभिव्यक्ति पंख फड़फड़ा रही हो।

5. **अद्‌भुत तत्व**–वाट्स डंटन ने इस प्रवृत्ति को अद्‌भुत का पुनर्जागरण कहा है। इस तत्व ने साहित्यिक शक्ति बनकर काव्य में ऐसी सांकेतिकता उत्पन्न की जिससे काव्य अधिक प्रभावशाली बन गया। अद्‌भुत तत्व से उत्पन्न सांकेतिकता सहृदय की कल्पना को स्पर्श करती है। कल्पना लोक में विचरण करने वाले स्वच्छंदतावादी कवियों का इस तत्व के प्रति बेहद आकर्षण एवं लगाव है। इस तत्व के कारण अतिमानवीय तत्व अपना भौंडापन एवं यांत्रिकता को छोड़कर स्वाभाविक एवं आकर्षक रूप में अभिव्यक्त हुए।

6. **व्यक्तिवाद**–यह स्वच्छंदतावाद की मूल प्रवृत्ति है। इसमें कवि अपनी दृष्टि, अपनी भावना, अपनी इच्छा और अपनी रुचि को महत्व देता है। अतः भारा में लिखे गए प्रबंध काव्यों में नायक आत्मकेंद्रित व्यक्ति होता है तथा गीतिकाव्य में कवि अपनी उदासी, निराशा, वेदना और व्यथा का चित्रण करता है। इस काव्य में (स्वच्छंदतावादी) विवेक के स्थान पर भावुकता, आकांक्षा, आदर्शमयता होती है। यह अप्रत्यक्ष, अरूप की भावना में स्थित होता है तथा स्थूल से अधिक महत्व सूक्ष्म को देता है। उनकी

अनुभूति गहन होती है और इसी सहानुभूति की प्रेरणा से यह काव्य रचना करता है। व्यक्तिवाद की प्रधानता के कारण कवि अपने भावोन्माद में डूबा रहता है। इस भाव की अतिशयता से क्षुब्ध होकर गेटे कहते हैं– Romanticism was diseased. स्वच्छंदतावादी अपनी ही भावनाओं की बीमारी से ग्रस्त रहता है।

7. **सौंदर्यमयी दृष्टि और ऐंद्रियता**–स्वच्छंदतावादी सौंदर्य के प्रति जिज्ञासु होते हैं तथा सौंदर्य प्रेम से ग्रस्त होते हैं। इन कवियों की रचनाओं में सर्वत्र सौंदर्य भावना पाई जाती है। शैली-संपूर्ण प्रकृति को सौंदर्यमयी मानता है तथा कीट्स के काव्य का एकमात्र संदेश यह है कि सौंदर्य शाश्वत और चिरंतन है और वही सर्वोच्च सत्य है–

   Beauty is truth, truth beauty, that is all.
   We know on earth and all we need to know

   इन कवियों की रचनाओं में ऐंद्रियता का तत्व प्रमुखतः होता है। उनके लिए जीवन भावनाओं की शृंखला है। संवेदनाओं से पूर्ण, स्पर्श, गंध और दृष्टिजन्य आनंद से पूर्ण पंक्तियां इनके काव्य की विशेषता है यह काव्य मन में सरसता की अद्‌भुत सृष्टि करता है।

8. **प्रकृति प्रेम**–स्वच्छंदतावादी कवि प्रकृति के मुक्त आंगन में स्वच्छंद विहार करता है। प्रकृति के प्रति उनके मन में अटूट प्रेम है। प्रकृति सदैव उनके मन में छाई रहती है तथा कल्पना के साथ मिलकर भिन्न-भिन्न रूपों में उसकी सहचरी बनी है–कभी प्रिया, कभी पत्नी, कभी बेटी, कभी नागरिका, कभी ग्रामीण बाला। वे प्रकृति को सचेतन सत्ता के रूप में देखते हैं। ये कवि प्रकृति के रमणीय रूप का उद्‌घाटन करने में सिद्धहस्त हैं। परंतु स्वच्छंदतावादी कवियों का प्रकृति-वर्णन वैयक्तिक है। वे प्रकृति के उन्हीं अवयवों को चुनते हैं जो आत्मानुभूति को स्पष्ट करने में सहायक हों।

9. **रहस्योन्मुखी दृष्टि तथा विराट के प्रति आकर्षण**–कल्पना के अतिरेक के कारण स्वच्छंदतावादी दृष्टि रहस्योन्मुखी है। ये आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ओत-प्रोत रहते हैं तथा इनमें विराट सत्ता के प्रति अदम्य आकर्षण होता है।

10. **राष्ट्रप्रेम तथा मानवतावादी दृष्टिकोण**–स्वच्छंदतावादी राष्ट्र के प्रति सच्चा प्रेम रखते हैं। इनका प्रेम स्थूल नहीं, सूक्ष्म है भावनाओं के स्तर का। इन कवियों का राष्ट्रप्रेम मानवतावाद पर आधारित है। निराला-पंत, प्रसाद सभी ने राष्ट्र प्रेम की कविताएं लिखीं। पाश्चात्य कवियों में भी अनेक कवि ऐसे हैं जिन्होंने देश के पशु-पक्षी, धरती, प्रकृति, निवासियों के माध्यम से देशप्रेम व मानवतावाद की प्रतिष्ठा की।

11. **स्वच्छंदतावादी कवियों में भावातिरेक**–स्वच्छंदतावादी कवियों में भावातिरेक पाया जाता है। वे भावुकता, भावों के सहज उच्छलन, भावोच्छ्वास, भावाभिव्यंजना पर बल देते हैं।

12. **अतीत का रहस्य एवं भविष्य के स्वर्णिम स्वप्न**–अतीत की रहस्यमयी छाया तथा भविष्य के सुनहरे स्वरूप पर इनकी दृष्टि टिकी होती है। कल्पना इनकी रहस्यमयता

को बढ़ाती है तभी भावी के स्वप्नों को अद्भुत चमकीले पंखों की उड़ान देती है। स्वच्छंदतावाद वाद-विवादों में घिरकर अपनी महत्वपूर्ण जगह बना पाया। इसकी कविताओं की सरसता, जीवंतता, काल्पनिकता, रहस्यमयता, लयात्मकता ने सहृदय के हृदय में स्थायी जगह बना ली।

कदाचित काव्य सृजन में इन गुणों के समावेश के कारण ही उनकी आलोचना शैली में भी स्वच्छंद प्रवृत्ति का समावेश हो गया है।

4.6.4 हिंदी के स्वच्छंदतवादी समीक्षक

भारतीय तथा पाश्चात्य जगत की स्वच्छंदतावादी समीक्षा पद्धति की सैद्धांतिकता से हिंदी की स्वच्छंदतावादी समीक्षा दृष्टि बहुत गहराई तक प्रभावित है। छायावादी युग के आलोचकों तथा कवि आलोचकों ने रोमांटिक काव्य सिद्धांतों को उदारता से अपनाते हुए नवीन दृष्टि का विकास किया है। यह संयोग ही है कि अंग्रेजी में रोमांटिक आलोचना शास्त्र और रोमांटिक साहित्य का साथ-साथ ही परिष्करण हुआ। हिंदी का आधुनिक साहित्य अपने नवजागरण कालीन दृश्य में रोमांटिक दृष्टि का कृतज्ञ रहा है। प्राय: विद्वानों ने यह अनुमान किया है कि भारतेंदु युग में अयोध्या प्रसाद खत्री का 'खड़ी बोली आंदोलन' जिसमें वर्ड्सवर्थ के सिद्धांत से अनुप्रेरित होकर यह घोषणा की गई थी कि गद्य पद्य की भाषा में कोई पार्थक्य नहीं होना चाहिए और न ही हो सकता है। युग की इसी अंतर्मानसिकता को समझते हुए आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा- गद्य और पद्य की भाषा पृथक-पृथक नहीं होनी चाहिए। यह निश्चित है कि किसी समय बोलचाल की हिंदी भाषा, ब्रजभाषा की कविता के स्थान को छीन लेगी। ब्रजभाषा के सामंती बोध के प्रति विद्रोही दृष्टि के कारण राष्ट्रीय-सांस्कृतिक नवजागरण के बोध की भाषा खड़ी बोली शीघ्र ही काव्य भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के विचारों पर रोमांटिक साहित्य शास्त्र का प्रभाव स्पष्टत: परिलक्षित होता है। स्वयं आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल रोमांटिक सिद्धांतों से अंशत: प्रभावित हुए हैं। उनके समक्ष छायावाद के कवि आलोचक रोमांटिक साहित्य शास्त्र की सीधी अभिव्यक्ति का प्रमाण देते हैं अपनी भूमिकाओं में इन कवियों ने रोमांटिक काव्य सिद्धांतों का खुलकर समर्थन किया है। छायावाद के प्रसिद्ध आलोचक आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेंद्र, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पं. शांतिप्रिय द्विवेदी तथा रामकुमार आदि सभी पर पाश्चात्य रोमांटिक काव्य सिद्धांतों का प्रभाव स्पष्टत: परिलक्षित होता है। परंतु यह प्रभाव हिंदी सैद्धांतिक समीक्षा की जड़ता को तोड़ने वाला एवं नयी दृष्टि की तलाश का रूप है न कि अंधानुकरण।

हिंदी की स्वच्छंदतावादी आलोचना ने प्राचीन संस्कृत सैद्धांतिकता की रूढ़ियां तथा रीतिकालीन पिष्ट पेषण से भरी शास्त्रीयता का बहिष्कार करते हुए उन मानों एवं मूल्यों से मुक्त होने का संकल्प साकार किया है। प्राचीन साहित्य सिद्धांतों से नवीन सृजनात्मकता को न्याय देना भी कठिन हो गया था। प्राय: साहित्य में प्रत्येक नया युग अपने साथ नयी सृजनात्मक प्रवृत्तियों को ही नहीं लाता, नवीन मूल्वत्ता एवं अर्थवत्ता से युक्त नये प्रतिमान भी लाता है। छायावादी आलोचकों ने अपने वैयक्तिक अनुभवों से छायावादी कवियों की भांति ही समझ लिया था कि प्राचीन परंपरागत अनुशासन उनके काम के नहीं हैं। प्राचीन सिद्धांतों की नयी दृष्टि से व्याख्या, पुनर्विचार करते हुए उन्हें नये ढंग से बदलने तथा व्यवहृत करने की जरूरत है। प्राचीन नियमों के प्रति अनादर भाव के मूल में यह भावना भी सक्रिय थी कि वे

साहित्य सिद्धांत अब धीरे-धीरे शास्त्र बन गए हैं। इसी को ध्यान में रखकर पंत एवं प्रसाद ने स्वच्छंदताधर्मी कला में कविता को नये भाव, नये विचार, नया शिल्प आदि सब कुछ नया देना चाहा था।

एक ओर छायावादी सृजन का पुरानी रूढ़ियों से भरे आचार्यगण विरोध कर रहे थे, दूसरी ओर नयी पीढ़ी का प्रबुद्ध पाठक और विचारक इसका स्वागत सहृदता एवं मर्मज्ञता के कारण ही प्रसाद तथा पंत पर बाजपेयी जी तथा डॉ. नगेंद्र जैसे आलोचक अच्छी आलोचना लिख सके हैं। अतः पुरानी रसालंकार शैली में चिपके संस्कारों से इन स्वच्छंदतावादियों को एक भयंकर युद्ध लड़ना पड़ा है। ऐसी स्थिति में उनके सामने पाश्चात्य जगत से उपयोगी विचार लेने में कोई हीन भाव न था। और नव निर्माण के लिए नयी सामग्री जुटाने का एकमात्र सही मार्ग पश्चिम में ही दिखाई देता था। स्वयं आचार्य शुक्ल की बुद्धिवादिता पर पाश्चात्य रंग काफी उभरा भी और खिला भी। स्वच्छंदतावादी चिंतकों ने भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धांतों की तुलनात्मक परीक्षा का भी कार्य किया। पश्चिम विदेश मात्र नहीं है उसकी ज्ञानात्मक रोशनी आलोचना की विश्व दृष्टि पाने के लिए आमंत्रण भी दे रही थी। इसी मनोभूमि ने हिंदी में स्वच्छंदतावादी साहित्यशास्त्र का निर्माण किया है। हमारा सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक स्वतंत्रता का समर जैसे-जैसे शक्ति पाकर बढ़ता जाता है। देश के मन में युक्त आकांक्षा का भाव गहरा होता जाता है। यही 'मुक्ति भाव' इस युग के सृजन एवं आलोचना दोनों में दृष्टिगत होता है। समानता, स्वायत्तता एवं समानता के जिन मूल्यों के लिए राजनीतिक, समाज सुधारक, तिलक, गांधी आदि जूझ रहे थे। साहित्य में उन्हीं मूल्यों के लिए प्रसाद, पंत, निराला में तड़प मिलती है। इसी प्रकार के भाव इस युग के आलोचकों में भी हैं। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी जी का कथन सत्य ही है कि "इस व्यापक राष्ट्रीय जागृति की हलचल में ही हमारा यह साहित्य पनपा और फूला-फला है इस अभूतपूर्व जागृति-केंद्र से पृथक रखकर अपने इस साहित्य को परख नहीं सकेंगे।"

देश की सांस्कृतिक चेतना को सही संदर्भों में रखकर न समझने के कारण कुछ समीक्षक उनकी सामाजिकता तथा स्वच्छंदावादी चेतना को ठीक-ठीक नहीं समझ सके हैं। हिंदी साहित्य में भारतेंदु के समय से ही देश और काल के बदलते संदर्भों में मनुष्य को परिभाषित करने की तैयारी प्रारंभ हो जाती है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, अचार्य रामचंद्र शुक्ल यह सब मानो स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य और साहित्य के बदलते देश और काल में समझना-समझाना रचनाकार और आलोचक दोनों की सम्मिलित जिम्मेदारी है। इसी परिप्रेक्ष्य से हिंदी के स्वच्छंदतावादी साहित्य एवं समीक्षा के आधारों को ऐतिहासिक, सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में तार्किकता के साथ ग्रहण करने की अपेक्षा है जिसे सही दृष्टि के अभाव से ज्यादातर गलत ढंग से समझाया है। क्योंकि इस भाव केंद्रित कवि सृष्टि के मूल में नयी अनुभूति, अनुभूतियों के भाषिक रूपांतरण, अलंकरण, प्रस्तुतिकरण, अंतर्मुखी प्रमाण, प्रकृति का निसर्गजात आकर्षण कौतूहल के मूल में बाहरी यात्रा से हटकर भीतरी यात्रा का आरंभ निहित है। इन्हीं सभी के कारण स्वच्छंदतावादी समीक्षा में कवि-वैयक्तिकता की स्वीकृति का ठोस आधार खोजा गया है।

जहां स्वच्छंदतावादी काव्य में स्वानुभूतिमयी विवृत्ति, वैयक्तिकता, कल्पना, सौंदर्य के नये मान आदि भाव स्फोट के रूप में आवेगों के साथ व्यक्त हुए हैं। वहीं नगेंद्र एवं महादेवी वर्मा ने स्कूल के प्रति सूक्ष्म के इस विद्रोह को इसी दृष्टि से पहचाना भी है। डॉ. नगेंद्र ने

5. पुराने आख्यानों तथा प्रसंगों को अपनाना तो ठीक है पर काव्य की पुरानी रूढ़ियों को अपनाना कवि कल्पना, काव्य विचार के लिए बाधक ही कहा जाएगा।

6. अक्सर कहा जाता है कि हिंदी समीक्षा का नया भवन विदेशों की नकल पर बना है। इसमें पाश्चात्य मध्ययुगीय उत्थान काल के आदर्श और 'डिजाइन' की अनुकृति है। इस संबंध में यह कहना उचित रहेगा कि ईंट, चूना, गारा और मिट्टी जब स्वदेशी है तब केवल डिजाइन विदेशी होने से क्या। और वह भी इसी अर्थ में विदेशी कही जा सकती है कि विदेशों में इससे मिलती-जुलती इमारतें बन चुकी हैं।

7. काव्य और कला की कोई माप स्थिर न होने के कारण नये समाजशास्त्री (मार्क्सवाद) और मनोविश्लेषक इस क्षेत्र पर मनमाने हमले कर रहे हैं और नयी विधा इस पर आजमाने लगे हुए हैं। ये सभी यदि तटस्थ वैज्ञानिक अनुशीलन में प्रवृत्त होते तो साहित्य का उपकार कर सकते थे किंतु उनका तो लक्ष्य है साहित्य क्षेत्र में अपनी सत्ता जमाना और साहित्य की अपनी सत्ता को मिटा देना। छायावाद तथा रहस्यवाद पर भी इसका आक्रमण नादिरशाह ढंग का है।

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी जी ने अपने पाठकों की सुविधा हेतु अपनी समीक्षा दृष्टि के सूत्रों का संकेत संक्षेप में कर दिया है जो इस प्रकार है–

1. रचना में कवि की अंतवृत्तियों का अध्ययन
2. रचना में कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता विशालता का अध्ययन
3. रीतियों, शैलियों और रचना के बाह्यांगों का अध्ययन
4. समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओं का अध्ययन
5. कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन
6. कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों आदि का अध्ययन
7. काव्य के जीवन संबंधी सामंजस्य और संदेश का अध्ययन

इन्हीं मूल्यों और मानों को आचार्य वाजपेयी ने महाकवि सूरदास, जयशंकर प्रसाद, पंत, महादेवी, अज्ञेय एवं अंचल पर लिखे लेखों में व्यावहारिकता प्रदान की।

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने अपनी समीक्षा दृष्टि जिन विषयों पर विचार किया वे इस प्रकार हैं–

1. रस चिंतन
2. काव्य का अधिकारी
3. आत्मानुभूति की प्रेरणा
4. साहित्य और जीवन की सम्मिलित अभिव्यक्ति
5. साहित्य की सामाजिकता
6. आदर्श और यथार्थ
7. स्वच्छंदता और परंपरा

8. काव्य तत्व

9. कल्पना

10. शैली तत्व (काव्य भाषा, छंद, अलंकार)

11. साहित्य रूपों का विवेचन

12. वाद विवेचन (छायावाद, रहस्यवाद, आदर्शवाद, नवीन यथार्थवाद, मार्क्सवाद, मनोविश्लेषण शास्त्र, अभिव्यंजनवाद

13. प्रयोगवाद एवं नयी कविता

इस प्रकार समग्र रूप में आचार्य वाजपेयी को शुक्ल की परंपरा का अनेक अंतर्विरोधों से भरा आलोचक कहना चाहिए।

दूसरे स्वच्छंदतावादी आलोचक में डॉ. नगेंद्र का नाम आता है। डॉ. नगेंद्र रसवादी परंपरा और पाश्चात्य समीक्षा की सौंदर्यमूलक स्वच्छंदतावादी दृष्टि का विकास एक साथ करने वाले आलोचक हैं। प्राच्य एवं प्रतीच्य समीक्षा सिद्धांतों का नये ज्ञान विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में नव्य व्याख्या - विश्लेषण तथा उपलब्ध मंतव्यों का तार्किक मूल्यांकन डॉ. नगेंद्र की समीक्षा में शुरू से अंत तक निहित है। उनके निबंधों में भारतीय एवं पाश्चात्य सैद्धांतिक दृष्टिकोण तुलनात्मक दृष्टि के साथ आता है। पर उनका समाधान वे मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण शास्त्र की मान्यताओं के आधारभूत तत्वों से करते हैं। 'रस सिद्धांत' की साधना के साधक के रूप में उन्हें पर्याप्त ख्याति मिली है। उनका कहना है कि "अनेक कारणों से इसे अपनी साहित्य साधना की परिणति मानता हूं। पिछले तीस वर्षों में काव्य के मनन और चिंतन से मेरे मन में जो अंत:संस्कार बनते रहे हैं उनकी संहति 'रस सिद्धांत' में ही हो सकती है।" प्राच्य एवं पाश्चात्य सिद्धांत दृष्टि की अनेकता में एकता खोजने का प्रयास ही डॉ. नगेंद्र की समीक्षा का मूल स्वर है। चाहे 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' हो काव्य में उदात्त तत्व, कामायनी के अध्ययन की समस्याएं हो तथा 'काव्यबिंब' सभी जगह यही दृष्टि है। भारतीय सौंदर्य-चिंतन के मूलाधारों को उन्होंने "भारतीय सौंदर्य शास्त्र की भूमिका" पुस्तक लिखकर स्पष्टता से प्रस्तुत करना चाहा है। 'साहित्य का समाजशास्त्र' 'काव्य बिंब' 'नयी समीक्षा नये संदर्भ' 'शैली विज्ञान' पुस्तकें भी डॉ. नगेंद्र के द्वारा लिखी गई हैं। डॉ. नगेंद्र ने जिन विषयों पर अपनी आलोचना दृष्टि से विचार किया है वे इस प्रकार हैं–

1. साहित्य प्रेरणा

2. आत्माभिव्यक्ति

3. कल्पना का उपयोग

4. कविता का क्या है

5. रस काव्यानुभूति का स्वरूप

6. काव्य स्वाद की प्रक्रिया-साधारणीकरण

7. भाव विवेचन

8. रस सिद्धांत की शक्ति एवं सीमा

9. काव्य की आत्मा

टिप्पणी

10. काव्य प्रयोजन
11. काव्य हेतु
12. काव्य का औपकारी
13. साहित्यिक मान्यताएं
14. अनुभूति की व्यापकता या व्यापकता के उपादान
15. आधुनिकता का प्रश्न
16. काव्य बिंब
17. काव्यगत अभिव्यक्तिवाद
18. फ्रायड का काम सिद्धांत
19. बाद समीक्षा दृष्टि (छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद)
20. छायावादोत्तर कविता-मूल्यांकन की समस्या
21. आज का लेखन और सांस्कृतिक विघटन
22. नयी समीक्षा
23. काव्य रूप
24. भाषा की अभिव्यक्ति
25. शैली (अलंकार और छंद)
26. विवेचन एवं मूल्यांकन

संक्षेप में डॉ. नगेंद्र की बड़ी शक्ति यह है कि वे भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य सिद्धांतों की तुलना से समान भूमि की खोज करते हैं। अरस्तू का काव्यशास्त्र, काव्य में उदात्त तत्व, काव्य बिंब, 'नयी समीक्षा: नये संदर्भ' के विषय में यही सत्य है। ठीक यही बात संस्कृत के ध्वन्यालोक, काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, 'वक्रोक्तिजीवित' आदि काव्यशास्त्र के ग्रंथों की भूमिकाओं में मिलेगी। डॉ. नगेंद्र की दृष्टि को उनके ही साफ शब्दों में कहा जा सकता है कि–

"भारत तथा पश्चिम के दर्शनों की तरह यहां के काव्यशास्त्र भी एक दूसरे के पूरक हैं और पुनराख्यान आदि के द्वारा उनके आधार पर हमारे अपने साहित्य की परंपरा के अनुकूल एक सश्लिष्ट आधुनिक काव्यशास्त्र का निर्माण सहज संभव है।"

स्वच्छंदतावादी आलोचकों में अगला नाम आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का आता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के सिद्धांतों पर भारतीय लोक और शास्त्र की चिंतन धारा का गहरा रंग है। पाश्चात्य आलोचना दृष्टि का उन पर कम प्रभाव पड़ा है। भारतीय दृष्टि से आचार्य हजारी द्विवेदी जी ने हिंदी की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक आलोचना को विकसित किया है। परंपरा, इतिहास एवं परिवेश इन तीनों पर उनकी दृष्टि रहती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसा भारतीय संस्कृति के मूल रूप और अर्थवत्ता को खोजने वाला साधक कोई दूसरा परिलक्षित नहीं होता उनकी सैद्धांतिक मान्यताओं पर मानवतावाद, उपयोगितावाद, सौंदर्यशास्त्र, मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण के साथ ऐतिहासिकतावाद का गहरा असर है। भारतीय शास्त्रों को पढ़ने-समझने वाले द्विवेदी जी की विशेषता यह है कि वे

10. काव्य प्रयोजन
11. काव्य हेतु
12. काव्य का अधिकारी
13. साहित्यिक मान्यताएं
14. अनुभूति की व्यापकता या व्यापकता के उपादान
15. आधुनिकता का प्रश्न
16. काव्य बिंब
17. काव्यगत अभिव्यक्तिवाद
18. फ्रायड का काम सिद्धांत
19. वाद समीक्षा दृष्टि (छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद)
20. छायावादोत्तर कविता-मूल्यांकन की समस्या
21. आज का लेखन और सांस्कृतिक विघटन
22. नयी समीक्षा
23. काव्य रूप
24. भाषा की अभिव्यक्ति
25. शैली (अलंकार और छंद)
26. विवेचन एवं मूल्यांकन

संक्षेप में डॉ. नगेंद्र की बड़ी शक्ति यह है कि वे भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य सिद्धांतों की तुलना से समान भूमि की खोज करते हैं। अरस्तू का काव्यशास्त्र, काव्य में उदात्त तत्व, काव्य बिंब, 'नयी समीक्षा: नये संदर्भ' के विषय में यही सत्य है। ठीक यही बात संस्कृत के ध्वन्यालोक, काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, 'वक्रोक्तिजीवित' आदि काव्यशास्त्र के ग्रंथों की भूमिकाओं में मिलेगी। डॉ. नगेंद्र की दृष्टि को उनके ही साफ शब्दों में कहा जा सकता है कि–

"भारत तथा पश्चिम के दर्शनों की तरह यहां के काव्यशास्त्र भी एक दूसरे के पूरक हैं और पुनराख्यान आदि के द्वारा उनके आधार पर हमारे अपने साहित्य की परंपरा के अनुकूल एक संश्लिष्ट आधुनिक काव्यशास्त्र का निर्माण सहज संभव है।"

स्वच्छंदतावादी आलोचकों में अगला नाम आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का आता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के सिद्धांतों पर भारतीय लोक और शास्त्र की चिंतन धारा का गहरा रंग है। पाश्चात्य आलोचना दृष्टि का उन पर कम प्रभाव पड़ा है। भारतीय दृष्टि से आचार्य हजारी द्विवेदी जी ने हिंदी की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक आलोचना को विकसित किया है। परंपरा, इतिहास एवं परिवेश इन तीनों पर उनकी दृष्टि रहती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसा भारतीय संस्कृति के मूल रूप और अर्थवत्ता को खोजने वाला साधक कोई दूसरा परिलक्षित नहीं होता उनकी सैद्धांतिक मान्यताओं पर मानवतावाद, उपयोगितावाद, सौंदर्यशास्त्र, मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण के साथ ऐतिहासिकतावाद का गहरा असर है। भारतीय शास्त्रों को पढ़ने-समझने वाले द्विवेदी जी की विशेषता यह है कि वे

टिप्पणी

10. काव्य प्रयोजन
11. काव्य हेतु
12. काव्य का अधिकारी
13. साहित्यिक मान्यताएं
14. अनुभूति की व्यापकता या व्यापकता के उपादान
15. आधुनिकता का प्रश्न
16. काव्य बिंब
17. काव्यगत अभिव्यक्तिवाद
18. फ्रायड का काम सिद्धांत
19. वाद समीक्षा दृष्टि (छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद)
20. छायावादोत्तर कविता-मूल्यांकन की समस्या
21. आज का लेखन और सांस्कृतिक विघटन
22. नयी समीक्षा
23. काव्य रूप
24. भाषा की अभिव्यक्ति
25. शैली (अलंकार और छंद)
26. विवेचन एवं मूल्यांकन

संक्षेप में डॉ. नगेंद्र की बड़ी शक्ति यह है कि वे भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य सिद्धांतों की तुलना से समान भूमि की खोज करते हैं। अरस्तू का काव्यशास्त्र, काव्य में उदात्त तत्व, काव्य बिंब, 'नयी समीक्षाः नये संदर्भ' के विषय में यही सत्य है। ठीक यही बात संस्कृत के ध्वन्यालोक, काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, 'वक्रोक्तिजीवित' आदि काव्यशास्त्र के ग्रंथों की भूमिकाओं में मिलेगी। डॉ. नगेंद्र की दृष्टि को उनके ही साफ शब्दों में कहा जा सकता है कि–

"भारत तथा पश्चिम के दर्शनों की तरह यहां के काव्यशास्त्र भी एक दूसरे के पूरक हैं और पुनराख्यान आदि के द्वारा उनके आधार पर हमारे अपने साहित्य की परंपरा के अनुकूल एक सुश्लिष्ट आधुनिक काव्यशास्त्र का निर्माण सहज संभव है।"

स्वच्छंदतावादी आलोचकों में अगला नाम आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का आता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के सिद्धांतों पर भारतीय लोक और शास्त्र की चिंतन धारा का गहरा रंग है। पाश्चात्य आलोचना दृष्टि का उन पर कम प्रभाव पड़ा है। भारतीय दृष्टि से आचार्य हजारी द्विवेदी जी ने हिंदी की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक आलोचना को विकसित किया है। परंपरा, इतिहास एवं परिवेश इन तीनों पर उनकी दृष्टि रहती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसा भारतीय संस्कृति के मूल रूप और अर्थवत्ता को खोजने वाला साधक कोई दूसरा परिलक्षित नहीं होता उनकी सैद्धांतिक मान्यताओं पर मानवतावाद, उपयोगितावाद, सौंदर्यशास्त्र, मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण के साथ ऐतिहासिकतावाद का गहरा असर है। भारतीय शास्त्रों को पढ़ने-समझने वाले द्विवेदी जी की विशेषता यह है कि वे

पश्चिम के दबाव में नहीं हैं। परंपरा बोध, इतिहास-बोध, सांस्कृतिक बोध--तीनों के समन्वित रूप से उनकी सैद्धांतिक मान्यताओं का आधार बना है, इसलिए उनके चिंतन की मौलिकता क्षण-क्षण नया सौंदर्य धारण करती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल एवं हजारी प्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व में सबसे बड़ा अंतर यही है कि शुक्ल का 'सांस्कृतिक बोध' अपर्याप्त सा परिलक्षित होता है। जबकि द्विवेदी जी इस दृष्टि से समग्र व्यक्तित्व के रूप में उभर कर आते हैं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना दृष्टि एवं विषयों को अधोलिखित बिंदुओं के द्वारा देखा जा सकता है।

1. साहित्येतिहास संबंधी धारणाओं में मतभेद
2. रचनात्मक अनुभूति
3. काव्यास्वाद का विवेचन
4. सामंजस्यपूर्ण सौंदर्यानुभूति
5. काव्य की आत्मा
6. काव्य हेतु
7. काव्य प्रयोजन-लोक कल्याण
8. सहृदय या काव्य का अधिकारी
9. साहित्य में ऐतिहासिकता-सामाजिकता
10. अभिव्यंजना के प्रतिमान

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आचार्य द्विवेदी के काव्य सिद्धांत मानववादी दृष्टि पर आधारित हैं। पश्चिमी दृष्टि उन्हें प्रभावित नहीं करती है। सामाजिकता को आधार बनाकर वे ऐतिहासिक-सांस्कृतिक दृष्टियों के अनुसंधाता आचार्य अधिक हैं, सिद्धांतकार कम। भारतीयता से स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि- भारतवर्ष का अलंकार शास्त्र बहुत सूक्ष्म और गहन है। संसार के किसी देश ने ऐसा सुंदर काव्य विवेचन नहीं लिखा। वे अपने पाठकों को यह स्मरण दिला देना चाहते हैं कि यह एक सावधानी के साथ, अनेक तर्क उक्तियों से परिमार्जित विचार शास्त्र है।

स्वच्छंदतावादी समीक्षकों में पं. शांतिप्रिय द्विवेदी का नाम भी उल्लेखनीय है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल उनके लिए लिखते हैं कि पं. शांतिप्रिय द्विवेदी ने 'हमारे साहित्य निर्माता' नाम की पुस्तक लिखकर हिंदी के कई वर्तमान कवियों और लेखकों की प्रवृत्तियों और विशेषताओं का अपने ढंग से अच्छा विवेचन किया है। शांतिप्रिय द्विवेदी 'सहृदय प्रधान' समीक्षा के भावुक आलोचक हैं। पं. शांतिप्रिय द्विवेदी के आलोचना बिंदु इस प्रकार हैं-

1. आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति
2. कविता की आत्मा
3. काव्य प्रयोजन
4. युग और साहित्य

5. छायावाद

6. जीवन और साहित्य

छायावाद को सही समझने और व्याख्यायित-विश्लेषित करने के मूल में उनकी यही ऐतिहासिक-सांस्कृतिक दृष्टि व्याप्त है। कुछ भी कहिए छायावाद का ऐसा 'सहृदय चक्रवर्ती' आलोचक कोई दूसरा हिंदी संसार में नहीं है जिसने इतनी सूक्ष्म-गहन अंतर्दृष्टि से इस काव्य की शक्ति सीमाओं का मूल्यांकन किया है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि स्वच्छंदतावादी सैद्धांतिक समीक्षा की धुरी भारतीय काव्यशास्त्र ही है। इसे नये ढंग से परखने तथा नये ढंग से व्याख्यायित-विश्लेषित करने के लिए पाश्चात्य शास्त्रीय सिद्धांतों में तुलना साम्य एवं प्रभाव ग्रहण किया गया है। स्वच्छंदतावादी सभी आचार्यों ने काव्यानुभूति के स्वरूप को तार्किकता तथा वैज्ञानिकता से स्पष्ट किया है।

4.7 मार्क्सवादी आलोचना

मार्क्सवाद चिंतन पद्धति की एक व्यापक परंपरा है। इस सिद्धांत के निर्माता कार्ल मार्क्स (1818-1883) थे तथा ऐंजेल्स (1820-1895) ने मार्क्स के सिद्धांतों की सर्वाधिक विश्वसनीय व्याख्या की तथा इन सिद्धांतों का प्रचार भी किया। ये दोनों (मार्क्स एवं ऐंजेल्स) आपस में मित्र थे तथा मूलतः आर्थिक एवं राजनीतिक विचारक थे। मार्क्स के अतिरिक्त इस परंपरा में लेनिन, गोर्की, प्लेखानान, कॉडवेल आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं। मार्क्स एवं ऐंजेल्स की साहित्य में भी रुचि थी। मार्क्स ने पर्याप्त समाजवादी साहित्य की रचना की। उसकी रचनाओं में 'द पॉवर्टी ऑफ फिलॉसफी–1847', 'द कम्यूनिष्ट मेनिफेस्टो–1848', 'दास कैपिटल' आदि प्रमुख हैं। मार्क्स साहित्य मुख्यतः सामाजिक-आर्थिक समस्याओं से संबंधित है। इन्हीं ग्रंथों में उन्होंने यत्र-तत्र कला-साहित्य संबंधी विचार भी प्रकट किए।

कार्ल मार्क्स के विचार युगांतरकारी हैं। उसकी दार्शनिक स्थापनाएं व्यापक हैं जिनका जीवन के हर क्षेत्र पर प्रभाव पड़ता है। वर्तमान में भी अधिकांश रचनाकार एवं उनकी रचनाएं मार्क्स दर्शन से प्रभावित हैं। मार्क्स के सिद्धांत 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद' पर आधारित जो साहित्य रचा गया उसमें प्रगतिवादी आंदोलनों ने भौतिक उपयोगितावादी मूल्यों की स्थापना की तथा साहित्य के आनंदवादी मूल्यों को हिला कर रख दिया। मार्क्स के 'वैज्ञानिक समाजवाद' की व्याख्या करते हुए ऐंजेल्स लिखते हैं–"वैज्ञानिक समाजवाद वह समाजवाद है जो समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने से पहले उन तमाम वैज्ञानिक नियमों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है जिनके आधार पर सामाजिक परिवर्तन होते हैं। सामाजिक गत्यात्मकता नियम विहीन नहीं होती। यदि हम इन नियमों को जान लें तो उसी के अनुरूप समाजवादी परिवर्तन कर सकेंगे। वैज्ञानिक समाजवाद जिस स्थान पर खड़ा है, वह स्वप्नों एवं भावनाओं की कोमल भूमि नहीं है वरन् सत्य और परिस्थिति का कठोर धरातल है।"

मार्क्सवाद सृष्टि और समाज दोनों के विकास पर दृष्टि रख कर चिंतन करने वाला दर्शन है। इसके दो स्वरूप हैं–पहले भाग में सृष्टि और समाज के विकास का विश्लेषण और दूसरे में इस विश्लेषण के आधार पर परिवर्तन के लिए प्रयास किए जाते हैं। मार्क्सवादी दर्शन,

इकाई 5 हिंदी के प्रमुख आलोचक –I

5.0

आलोचकों के लिए निष्पक्षता, अभिव्यक्ति की क्षमता, सहृदयता तथा विषय-विशेष में निपुण होना आवश्यक माना गया है। कवि-कर्म की व्याख्या करना और उसे चर्वण योग्य बनाना ही आलोचक का कर्म है। आलोचना एक उपयोगी एवं समृद्ध विधा है जो स्वस्थ, शास्त्रीय साहित्य को प्रोत्साहित करती है। साहित्य के दोषों, अभावों, कमियों का निवारण करने का उत्तरदायित्व इस विधा पर है। आलोचना जितनी मानवीय जीवन को स्वस्थ सुंदर बनाने के लिए आवश्यक है, उतनी ही साहित्य को स्वस्थ्य, सुंदर बनाने के लिए भी। आलोचकों के लिए उत्तरदायित्वों का निर्वाह अत्यंत कठिन कार्य है। निष्पक्षता, अभिव्यक्ति की सामर्थ्य, गहन सूक्ष्म दृष्टि आदि आलोचना कर्म के लिए आवश्यक है। इस इकाई में आचार्य रामचंद्र शुक्ल, शिवदान सिंह चौहान, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेंद्र, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध और नामवर सिंह की समीक्षा पद्धतियों का अध्ययन किया जा रहा है।

रामचंद्र शुक्ल रसवादी आचार्य हैं। वे 'रसो वै सः' के पक्षपाती हैं। शुक्ल जी की व्याख्याएं दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक हैं। उनकी धारणाएं एवं मान्यताएं चिंतन के लिए सुदृढ़ भूमि प्रदान करती हैं। आचार्य शुक्ल ने विभाव, भाव, रस आदि पर विस्तृत विवेचना उपस्थित की है। शुक्ल जी द्वारा उपस्थित 'चिंतनपरक विवेचन' के काव्यात्मवाद का आलोचना के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने रसवादी परंपरा को समृद्ध किया एवं परवर्ती चिंतकों को चिंतन की नई धारा और दिशा प्रदान की।

शिवदान सिंह चौहान ने 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' शीर्षक से लेख लिखा, जिसमें प्रगतिशील साहित्य के सिद्धांतों को सूत्रबद्ध किया। उनकी प्रमुख रचनाएं हैं- 'आलोचना के सिद्धांत' और 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष'। चौहान जी 'हंस' और 'आलोचना' पत्रिकाओं के संपादक रहे। उनके आरंभिक निबंध 'प्रगतिवाद' में संकलित हैं। प्रकाशचंद गुप्त ने मार्क्सवादी सिद्धांतों के विवेचन के साथ हिंदी साहित्य की पुरानी परंपरा और समसामयिक साहित्य का सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन किया। उनके तीन प्रमुख निबंध संकलन हैं- 'आधुनिक हिंदी साहित्य : एक दृष्टि', 'हिंदी साहित्य की जनवादी परंपरा', और 'साहित्यधारा'।

नंददुलारे वाजपेयी जी ने द्विवेदी काल के उत्तरार्द्ध में आलोचना क्षेत्र में प्रवेश किया था। प्रारंभ में 'सरस्वती' में उनकी आलोचनाएं प्रकाशित हुईं। डॉ. भगवत स्वरूप मिश्र ने वाजपेयी जी की आलोचना की दो प्रधान विशेषताएं बताई हैं- कलाकार की अंतर्वृत्तियों का अध्ययन तथा कलाकृति के सौष्ठव का अनुभूतिपूर्ण विश्लेषण। वाजपेयी जी ने द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता तथा नैतिकतावाद से समीक्षा को मुक्त किया। उन पर पाश्चात्य समीक्षा सिद्धांतों का व्यापक प्रभाव था। वाजपेयी जी को छायावादी, प्रगतिवादी और प्रयोगवादी रचनाओं की गंभीर और विस्तृत समीक्षा का श्रेय जाता है। वाजपेयी जी के प्रधान समीक्षा ग्रंथ हैं- 'हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी', 'जयशंकर प्रसाद', 'सूर संदर्भ की भूमिका', 'आधुनिक साहित्य', 'महाकवि सूरदास' और 'नया साहित्य नये प्रश्न' आदि।

डॉ. नगेंद्र स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति के आलोचक हैं। छायावादी काव्य की अंतर्मुखी साधना, सौंदर्य चेतना और कलात्मकता के प्रति उनका विशेष आकर्षण था। 'सुमित्रानंदन पंत' पुस्तक में पंत जी की कविताओं में मनोदशाओं का सुंदर चित्रण किया है। 'रीतिकाव्य की भूमिका' तथा 'देव और उनकी कविता' में सैद्धांतिक आलोचना है। वे मूलत: रसवादी आलोचक हैं। 'रस सिद्धांत' में उन्होंने रस का पूरा विवेचन कर उसकी पुन: प्रतिष्ठा का प्रयास किया है। वे आधुनिक साहित्य और समसामयिक आंदोलनों से भी जुड़े रहे। नई समीक्षा: नये संदर्भ में मूल्यों का विघटन, सांस्कृतिक संकट, आधुनिकता का प्रश्न आदि पर भी उन्होंने विचार व्यक्त किये हैं। पाश्चात्य सिद्धांतों की जानकारी देने के लिए उन्होंने 'काव्य बिंब' की रचना की। उन्होंने हिंदी आलोचना को व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक दोनों दृष्टियों से विकसित किया है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी आधुनिक काल के सर्वश्रेष्ठ निबंधकारों, इतिहासकारों में गिने जाते हैं। आधुनिक समीक्षकों में उनका नाम अग्रगण्य है। उनके उपन्यास संख्या में कम किंतु अत्यंत रोचक और महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि वे मूलत: काव्यशास्त्री नहीं हैं किंतु काव्यशास्त्र और काव्यात्मवाद पर लिखे गए उनके कुछ निबंध हमें काव्यशास्त्र से संबंधित उनके मतों का परिचय देते हैं। वे रसवादी प्रतीत होते हैं। आचार्य द्विवेदी काव्यात्मवाद संबंधी चर्चा में 'रस' को महत्व देते हैं तथा भक्ति रस और उसके स्वरूप मधुर रस को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, आत्मा द्वारा अनुभूत यह अलौकिक रस ही उन्हें भाता है। उनके निबंधों में यह सरसता देखी जा सकती है, अनुभव की जा सकती है। उनके साहित्य की सरसता भी यही दर्शाती है इसलिए उनके निबंध ललित निबंधों की श्रेणी में रखे जाते हैं। उनकी दृष्टि मानवतावादी है, वे कहते हैं–मनुष्य को देवता बनाना ही काव्य का सबसे बड़ा उद्देश्य है। मनुष्य को उसकी स्वार्थबुद्धि से ऊपर उठाना, उसको इहलोक की संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर सत्वगुण में

प्रतिष्ठित करना, परदुखकातर और संवेदनशील बनाना काव्य का काम है। काव्य की अनेकानेक समस्याओं पर भी द्विवेदी जी ने प्रकाश डाला है।

डॉ. रामविलास शर्मा ने छायावादी काव्य और उसमें विशेषकर निराला के साहित्य की व्याख्या से आलोचना कार्य आरंभ किया। रामचंद्र शुक्ल और प्रेमचंद पर भी किया गया आलोचना कार्य महत्वपूर्ण है। इस दृष्टि से आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, 'प्रेमचंद' और 'निराला की साहित्य साधना' हिंदी आलोचना की उपलब्धियां हैं। रामविलास शर्मा ने मार्क्सवादी साहित्य-सिद्धांतों का कोरा सैद्धांतिक प्रतिपादन ही नहीं किया वरन् मार्क्सवादी दृष्टि से समूचे हिंदी साहित्य की परंपरा की नई व्याख्या प्रस्तुत की। 'आदिकाव्य', 'साहित्य के स्थायी मूल्यों की समस्या : कालिदास', तथा 'भवभूति की करुणा' उनकी उल्लेखनीय रचनाएं हैं। रामविलास शर्मा प्रगतिवादी लेकिन परंपरा का पालन करने वाले आचार्य हैं।

नई समीक्षा में डॉ. नामवर सिंह का शीर्ष स्थान है। नामवर सिंह की आलोचना समाजवादी जीवन दृष्टि और नई कविता के भाव बोध को लेकर चली है। उनकी पुस्तक 'छायावाद' में छायावादी कविता के छायाचित्रों में निहित सामाजिक सत्य का उद्घाटन किया गया है।

5.1 इकाई के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

- समीक्षा के क्षेत्र में नयी जगह बनाने वाले आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना पद्धतियों से परिचित हो पाएंगे;
- मार्क्सवादी आलोचक शिवदान सिंह चौहान की समीक्षा पद्धतियों का विश्लेषण कर पाएंगे;
- प्रमुख काव्यशास्त्रीय समालोचक आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के समीक्षा सिद्धांतों का मूल्यांकन कर पाएंगे;
- भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्रों का समन्वय करने वाले डॉ. नगेंद्र की समीक्षा पद्धतियों का विवेचन कर पाएंगे;
- जानेमाने इतिहासकार एवं मानवतावादी समीक्षक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की समीक्षा दृष्टि का आकलन कर पाएंगे;
- प्रगतिवादी समीक्षक डॉ. रामविलास शर्मा की समीक्षा प्रणालियों की विशेषताओं का वर्णन कर पाएंगे;
- साहित्य चिंतन के क्षेत्र में अपनी विशिष्ट पहचान बनाने वाले मुक्तिबोध की समीक्षा दृष्टि को परिभाषित कर पाएंगे;
- हिंदी समीक्षा के क्षेत्र में अलग मार्ग बनाने वाले डॉ. नामवर सिंह की समीक्षा दृष्टि का विश्लेषण कर पाएंगे।

5.2 आचार्य रामचंद्र शुक्ल

आचार्य रामचंद शुक्ल का जन्म उत्तर प्रदेश के बस्ती जिला में हुआ था। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' के लेखक आचार्य रामचंद्र शुक्ल का हिंदी काव्य समालोचना जगत में मूर्धन्य स्थान है। हिंदी साहित्य के काल विभाजन का श्रेय इन्हीं को जाता है, 'कविता क्या है, चिंतामणि (3 भाग)' भी इनकी विशिष्ट समालोचनात्मक कृतियां हैं।

शुक्ल जी रसवादी आचार्य हैं। वे कहते हैं– "अलंकार वर्णन करने की प्रणाली है। चाहे जिस वस्तु या तथ्य के कथन को हम किसी अलंकार प्रणाली के अंतर्गत ला सकते हैं। किसी वस्तु-विशेष से किसी अलंकार प्रणाली का संबंध नहीं हो सकता। किसी तथ्य तक वह परिमित नहीं रह सकती। वस्तु-निर्देश अलंकार का काम नहीं, रस-व्यवस्था का विषय है। किन-किन वस्तुओं, चेष्टाओं या व्यापारों का वर्णन किन-किन रस के विभावों और अनुभावों के अंतर्गत आएगा, इसकी सूचना रस निरूपण के अंतर्गत ही हो सकती है।" अलंकारों की तरह चमत्कारवाद को भी वे रस की तुलना में हीन सिद्ध करते हुए कहते हैं कि–"चमत्कार मनोरंजन की सामग्री है, इसमें संदेह नहीं। इसमें जो लोग मनोरंजन को ही काव्य का लक्ष्य समझते हैं, वे यदि कविता में चमत्कार ही ढूंढ़ा करें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पर जो लोग इससे ऊंचा और गंभीर लक्ष्य समझते हैं वे चमत्कार मात्र को काव्य नहीं मान सकते।" चमत्कार से हमारा अभिप्राय यहां प्रस्तुत वस्तु के अद्भुत या वैलक्षण्य से नहीं, जो अद्भुत रस के आलंबन में होता है। 'चमत्कार' से हमारा तात्पर्य उक्ति के चमत्कार से है जिसके अंतर्गत वर्णविन्यास की विशेषता, शब्दों की क्रीड़ा, वाक्य की वक्रता आदि बातें आती हैं। चमत्कार का प्रयोग भावुक कवि, भाव की अनुभूति को तीव्र करने के लिए करते हैं। शुक्ल जी कोरे चमत्कार युक्त वाक्य को काव्य की संज्ञा नहीं देते। वे कहते हैं–"किसी उक्ति की तह में उसके प्रवर्तक के रूप में यदि कोई भाव या मार्मिक अंतर्वृत्ति छिपी है तो चाहे वैचित्र्य हो या न हो, काव्य की सरसता बराबर पाई जाएगी पर यदि कोरा वैचित्र्य या चमत्कार ही चमत्कार है तो थोड़ी देर के लिए कुछ कुतूहल या मन बहलाव चाहे हो जाए पर काव्य में लीन करने वाली सरसता नहीं पाई जाएगी।" शुक्ल जी 'रसो वै सः' के पक्षपाती हैं।

शुक्ल जी ने काव्य के दो विभागों 'आनंद की साधनावस्था' एवं 'आनंद की सिद्धावस्था' की बात की है तथा माधुर्य को सर्वाधिक आकर्षक बताया है। वे कहते हैं–"भाव योग की चरम साधना से हृदय की जो मुक्तावस्था प्राप्त होती है वह इसी माधुर्य की अनुभूति के सहारे। भेद में अभेद की रसात्मक प्रतीति इसी माधुर्य का स्वाद है जिसे हमारे यहां के भक्तों ने भगवान का प्रसाद बताया है–ऐसा प्रसाद जिससे आत्मा का पोषण होता है।"

शुक्ल जी की व्याख्याएं दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक हैं। उनकी धारणाएं एवं मान्यताएं चिंतन के लिए सुदृढ़ भूमि प्रदान करती है। आचार्य शुक्ल ने विभाव, भाव, रस आदि पर विस्तृत विवेचना उपस्थित की है। वे कहते हैं–"कवि कर्म-विधान के दो पक्ष हैं–विभाव पक्ष और भाव पक्ष। कवि एक ओर तो ऐसी वस्तुओं का चित्रण करता है जो मन में कोई भाव उठाने या उठे हुए भाव को और जमाने में समर्थ होती हैं और दूसरी ओर उन वस्तुओं के अनुरूप भावों के अनेक स्वरूप शब्दों द्वारा व्यक्त करता है। एक विभाव पक्ष है, दूसरा भाव पक्ष। काव्य में ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं, अतः दोनों रहते हैं। पर काव्य में विभाव ही मुख्य है।" भावों के

संबंध में उनका कथन है, कि "भाव ही कर्म के मूल प्रवर्तक और 'शील' के संस्थापक हैं। 'भाव' मन की वेगयुक्त अवस्था विशेष है, यह क्षुत्पिपासा, कामवेग आदि शरीर वेगों से भिन्न है। विश्लेषण करने पर उनके तीन अंग पाए जाते हैं-(1) यह अंग जो प्रवृत्ति या संस्कार के रूप में अंतर्मज्ञा में रहता है (वासना) (2) यह अंग जो विषय बिंब के रूप में रहता है और 'भाव' का प्रकृत स्वरूप है (भाव, आलंबन आदि की भावना) (3) यह अंग जो आकृति या आचरण में अभिव्यक्त होता है और बाहर देखा जा सकता है (अनुभाव और नाना प्रयत्न)। प्रत्यय बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम 'भाव' है।

रसानुभूति संबंधी विचार

शुक्ल जी रसानुभूति के लिए तीन तरह के रूप विधानों की बात करते हैं-

(1) प्रत्यक्ष रूपविधान

(2) स्मृति रूपविधान और

(3) संभावित या कल्पित रूपविधान। यह तीसरा प्रकार सर्वत्र रसानुभूति का कारण माना जाता है।

प्रथम प्रकार को सिद्ध करते हुए वे कहते हैं-"रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक कोई अंतर्वृत्ति नहीं है बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात स्वरूप है।" इसी तरह द्वितीय प्रकार के लिए कहते हैं-"मन नहीं मानता, अतीत के मधुस्रोत में कभी-कभी अवगाहन किया ही करता है। ऐसा स्मरण वास्तविक होने पर भी रसात्मक होता है। हम सचमुच स्मरण करते हैं और रसमग्न होते हैं।" रसानुभूति के संबंध में शुक्ल जी कहते हैं-"किसी वस्तु या तथ्य के मार्मिक पक्ष की प्रतीति या बोध लिए हुए ही सच्ची रसानुभूति होती है। वस्तु या तथ्य का मार्मिक पक्ष उस वस्तु या तथ्य से अलग कोई वस्तु नहीं होता, उसी के अंतर्भूत होता है।" रसानुभूति साधारणीकरण द्वारा होती है। यह साधारणीकरण क्या है, इस पर शुक्ल जी का अभिमत है कि "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके द्वारा उसी भाव का आलंबन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहां 'साधारणीकरण' कहलाता है। यह सिद्धांत घोषित करता है कि सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम 'रस-दशा' है।" शुक्ल जी के कथन का तात्पर्य है कि साधारणीकरण आलंबनत्व धर्म का होता है।

शुक्ल जी द्वारा उपस्थित 'चिंतनपरक विवेचन' के काव्यात्मवाद का आलोचना के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने रसवादी परंपरा को समृद्ध किया एवं परवर्ती चिंतकों को चिंतन की नई धारा और दिशा प्रदान की। शुक्ल जी की मान्यताओं एवं स्थापनाओं को काव्यात्मवाद संबंधी विमर्श के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रदेश माना जा सकता है।

आचार्य शुक्ल युग-निर्माता आलोचक थे। आपने आलोचना साहित्य को नवीन दिशा प्रदान की। परंपरा से चली आ रही आलोचना पद्धतियों की त्रुटियों का निराकरण कर उन्हें निर्दोष स्वरूप प्रदान कर साहित्य की महती सेवा की तथा आलोचना-साहित्य में एक युग का सूत्रपात किया।

आचार्य शुक्ल के आलोचना के क्षेत्र में आने के समय हिंदी साहित्य बढ़ने के साथ संस्कृत, बांग्ला और अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव ग्रहण कर रहा था। अंग्रेजी समालोचकों के ग्रंथों का भारतीय महाविद्यालयों में अध्ययन-अध्यापन अबाध गति से होने लगा था। सांस्कृतिक पुनरुत्थान के फलस्वरूप गुरुकुलों एवं पाठशालाओं में संस्कृत भाषा एवं साहित्य के अध्ययन एवं अध्यापन पर बल दिया जाने लगा था। इस प्रकार इस युग में उत्पन्न हुए समालोचक अंग्रेजी और संस्कृत के समान प्रभाव से ग्रस्त थे। इस युग के समालोचकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने कृति की गहराई में प्रविष्टि होकर कृतिकार के सत्य को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। निष्पक्षता एवं तटस्थता के साथ कृति को समझने और समझाने का इनका उद्देश्य प्रशंसनीय रहा है।

5.2.1 लोकमंगल की भावना को महत्व

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लोकमंगल की भावना को काव्य का महत्वपूर्ण तत्व माना है। उनके द्वारा प्रतिपादित लोकमंगल का सिद्धांत आज भी साहित्य के क्षेत्र में बहुचर्चित एवं प्रसिद्ध है जिसका हम विस्तृत वर्णन इकाई चार में कर चुके हैं। आचार्य शुक्ल का स्पष्ट अभिमत था कि काव्य नैतिकता का दामन छोड़ने पर विडंबना मात्र रह जाता है। फलतः शुक्ल जी ने लोक मंगल की भाव-भूमि पर साहित्य का मूल्यांकन किया। महाकवि तुलसीदास की रचनाएं, विशेषकर रामचरितमानस आपकी समीक्षाओं का आधारभूत ग्रंथ रहा है। इसीलिए आचार्य शुक्ल रीतिकालीन एवं छायावादी कवियों के साथ न्याय नहीं कर पाए। आचार्य शुक्ल की दूसरी विशेषता यह है कि इन्होंने अपनी विवेचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक शैली के माध्यम से व्याख्यात्मक आलोचना की स्थापना की। जायसी ग्रंथावली और भ्रमरगीत सार की भूमिकाओं में उनकी इस समीक्षा को चिह्नित किया जा सकता है। आचार्य शुक्ल ने सैद्धांतिक आलोचना पर भी अपनी लेखनी का जौहर दिखाया है। अपनी तत्वान्वेषिणी प्रतिभा एवं गवेषणामक प्रवृत्ति के कारण इन्होंने प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र के सिद्धांतों की तात्विक समीक्षा कर उन्हें युगानुकूल रूप प्रदान करने का स्तुत्य प्रयास किया है। इस प्रसंग में रस मीमांसा, कविता क्या है? साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद, रहस्यवाद, वक्रोक्ति एवं अभिव्यंजनावाद जैसे ग्रंथों एवं निबंधों में उनकी मौलिकता और प्रौढ़ चिंतन-शक्ति का सन्निवेश हुआ है। इनके अतिरिक्त 'चिंतामणि' में संकलित निबंधों में उनके दार्शनिक चिंतन की छाप देखी जा सकती है तो हिंदी साहित्य के इतिहास में उनकी निर्णयात्मक एवं गवेषणात्मक रुचि का अवलोकन किया जा सकता है। डॉ. नगेंद्र के शब्दों में कहा जा सकता है कि कदाचित यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि 'उनके समान मेधावी आलोचक किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा में नहीं है।'

शुक्ल जी के साहित्य क्षेत्र में प्रविष्ट होने के समय हिंदी साहित्य के उत्कर्ष और भावी विकास के लिए ऐसे वातावरण का निर्माण हो गया था जिसमें उनका पदार्पण साहित्य-समीक्षा की अभिवृद्धि में अत्यंत मंगलमय सिद्ध हुआ। उन्होंने साहित्य सेवा और उसकी समृद्धि का व्रत धारण किया जो जीवन पर्यन्त चलता रहा। निस्संदेह उनके कार्यों की गुरुता साहित्य संसार में ऐसी व्यापक सत्ता प्राप्त कर सकी, जिसने उन्हें साहित्यालोचन के क्षेत्र का एक महारथी बनाया। उनकी बहुमुखी प्रतिभा के विकास के अनेक क्षेत्र थे, किंतु साहित्य-समालोचन और निबंध साहित्य में उनके समान कोई मेधावी लेखक नहीं हुआ। यही कारण है कि उनका

साहित्य सेवाकाल समालोचना साहित्य के विकास में 'शुक्ल युग' के नाम से प्रख्यात है। उन्होंने सूर, तुलसी और जायसी पर जो गंभीर विस्तृत समालोचनाएं लिखी हैं, उनसे परवर्ती युग के समालोचकों और शोधार्थियों को प्रेरणापद मार्गदर्शन मिला है। 'चिंतामणि' के दोनों भागों में संकलित उनके मनोवैज्ञानिक और समीक्षात्मक निबंध भी अपना स्थायी गौरव प्राप्त किये हुए है। रस-मीमांसा जैसे गंभीर विषय को उन्होंने नवीन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चिंतन का विषय बनाया है। इसी प्रकार आधुनिक युग की अनेकानेक प्रवृत्तियों का विश्लेषण उन्होंने अपने पांडित्यपूर्ण व्यक्तित्व की चेतना से जिस प्रणाली में किया है, यह हिंदी समालोचना का आधारभूत प्रतिमान बन गई।

शुक्ल जी निश्चय ही हिंदी के गंभीर समालोचक थे। उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-सिद्धांतों का व्यापक और गहन अध्ययन किया तथा अपनी प्रतिभा के बल पर मौलिक उद्भावनाएं प्रस्तुत कीं। किसी भी वाद-प्रवृत्ति अथवा मान्यता को वे तभी स्वीकार करते थे, जब वह उनके मस्तिष्क में अच्छी प्रकार से समा जाती अथवा उनके मूल में उन्हें अपने मनोनुकूल न्याय-भावना का तत्व सन्निहित मिलता। उनकी बौद्धिक चेतना और रसानुभूति इतनी उर्वर और प्रबल थी कि वे उनके द्वारा सम्यक साहित्य मंथन कर एक ऐसा अमृत प्राप्त कर सके, जिसने उन्हें वस्तुत: आचार्य पद का अधिकारी बनाया। यह उनके गहन चिंतन का ही प्रतिफल था कि वे हिंदी साहित्य की विभिन्न विधाओं में अपनी मानसिक शक्ति का उन्मेष कर सके और साहित्यालोचन का क्षेत्र तो उनकी रसग्राहिणी प्रतिभा के द्वारा भी अधिक समृद्ध हुआ। यह उन्हीं के समान तत्वान्वेषी और सुधी समालोचक की ही देन है जिससे हिंदी में समालोचना का एक स्वतंत्र मापदंड स्थापित हो सका। उनकी सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचनाएं उनके गंभीर व्यक्तित्व के तानों-बानों से निर्मित और स्वतंत्र चेतना से अनुप्राणित है।

आचार्य शुक्ल का महत्व इस दृष्टि से भी है कि उन्होंने समालोचना-साहित्य में एक अद्भुत क्रांति और युग-प्रवर्तन किया। उनका आविर्भाव-काल भारतेंदु युग का अवसान और द्विवेदी युग का प्रारंभ था, किंतु वे अपनी सम्मुख प्रवाहित युग-धारा के ही अनुवर्ती नहीं रहे, अपितु वे उसे बहुत दूर तक आगे ले गए। उन्होंने एक सफल समालोचक के रूप में अपने युग की प्रवृत्तियों का सम्यक् आलोचन किया। उन्होंने रसवाद की मीमांसा भारतीय और पश्चिमी विचारधारा का सम्यक् सामंजस्य करते हुए की और वे अलंकारवाद की रूढ़िग्रस्तता को दूर कर उसे जीवन-सौंदर्य का पर्याय बना कर ग्रहण सके। यह उनकी उच्च काव्य-भावना का ही परिणाम था कि वे समालोचना के क्षेत्र में एक नवीन रूप और प्रकार उद्भावित कर सके और उनकी विचारधारा का एक निश्चित मानदंड बन सका।

5.2.2 सगुणवादी धारा के प्रशंसक

उन्होंने कथात्मक साहित्य या प्रबंध-रचना को मुक्तक-काव्य की समता में श्रेष्ठतर माना और निर्गुण-सगुण के विवेचन में रसगुणवादी धारा की ओर ही अधिक झुके। इसी प्रकार उनके मानस में तुलसी के प्रति इतना अधिक श्रद्धाभाव समाहित था कि वे मुख्यत: उन्हीं की काव्य-रचनाओं को अपनी समालोचना की सैद्धांतिकता का आधार बनाकर चले और केशव को हृदयहीन तथा कबीर को मूर्खपंथी तक कहने में उन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं हुआ। रहस्यवाद और छायावाद के प्रति उनके मन में आक्रोश-भावना थी जिसके कारण वे उसके काव्यगत प्रयोग को

विदेशी तथा अग्राह्य ही समझते रहे और उसका विवादग्रस्त स्वरूप उन्हें महत्त्वहीन सा लगा। क्रोचे का अभिव्यंजनावाद तो उन्हें 'भारतीय वक्रोक्तिवाद के विलायती उत्थान' से अधिक वैशिष्ट्यपूर्ण नहीं प्रतीत हुआ। इसी प्रकार कलावाद, कल्पनावाद और स्वच्छंदतावाद भी उनके मस्तिष्क में उनकी निजी धारणा के अनुसार ही आकार ग्रहण कर सके।

उन्होंने अपनी आलोचनाओं द्वारा साहित्य को यह संदेश दिया कि वह अपने सर्वांगीण विकास की ओर उन्मुख होकर चले। उन्होंने उन आलोचकों पर कठोर व्यंग्य किया जो समीक्षा के एक ही अंग अथवा उसकी संकीर्ण परिधि में सिमट कर रह जाते हैं तथा जिनमें अधिकतर लोगों में अपने पक्ष के समर्थन का दुराग्रह प्रबल होता है। उन्होंने ऐसी आलोचनाओं को किसी भी दृष्टि से साहित्य की वृद्धि के लिए उपादेय नहीं बतलाया और यही कहा कि उनसे व्यर्थ ही भ्रांतिपूर्ण वातावरण की सृष्टि होती है। जो आलोचक ऐसी प्रवृत्ति से चलते हैं, उन्हें उन्होंने 'साहित्य में कनकौओं को उड़ाने की प्रवृत्ति वाले' कहा है, क्योंकि उनके द्वारा साहित्य की अंतरात्मा की दिव्य झलक कदापि नहीं प्राप्त हो सकती। आचार्य शुक्ल ने अपने मौलिक दृष्टिकोण से साहित्य का परीक्षण करने की सफल चेष्टा की है।

काव्य लक्षण

उन्होंने काव्य में रहस्यवाद का स्थान निर्धारण करने के पूर्व काव्य का लक्षण निरूपित किया। उनकी परिभाषा से काव्य का उद्देश्य और प्रयोजन अवश्य ही स्पष्ट हो जाता है। निश्चय ही उनका काव्य प्रयोजन भारतीय आदर्शवाद की परंपरा के बहुत निकट है, जिसके द्वारा वे काव्य की संप्रेषण शक्ति का आभास यह कह कर देते हैं कि "कविता मनुष्य के हृदय को व्यक्तिगत संबंध के संकुचित मंडल से ऊपर उठकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है जहां जगत के नाना रूपों और व्यापारों के साथ उसके प्रकृत संबंध का सौंदर्य दिखाई पड़ता है।" ऐसा कहते हुए वे काव्य का प्रयोजन मनुष्य के सब भावों और सब मनोविकारों के लिए प्रकृति के आधार-क्षेत्र से आलंबन या विषय चुन-चुन कर रखना निर्दिष्ट कर, काव्य का संबंध जगत और जीवन की अनेकरूपता के साथ स्वत: जोड़ देते हैं। इस प्रकार उनकी काव्य-विषयगत प्रत्यक्ष दृष्टि सगुणोपासना की भांति व्यक्त और गोचर जगत को काव्य के विषय बनाने में अधिक संगति पाती है, और यही कारण है कि वे रहस्यवाद में वर्णित अव्यक्त की लालसा को अपनी काव्य-सरणि में कोई महत्त्व नहीं देते।

5.2.3 रहस्यवाद संबंधी मत

शुक्ल जी का काव्य-प्रतिमान भावों के उदात्त और व्यापक विधान पर आधारित था। वे जीवन के सौंदर्य को वैचित्र्यपूर्ण मानते हुए उसमें सभी प्रकार के भावों का समावेश आवश्यक समझते थे। यही कारण है कि उन्होंने निष्क्रिय सौंदर्य चित्रण को केवल स्वप्न द्रष्टाओं का उपजीव्य बतला कर उसमें उस व्यापक भावभूमि का अभाव सिद्ध किया है, जिसकी पवित्रता में 'व्यक्ति-जीवन लोक जीवन में लय' होकर उसमें विश्व-हृदय का स्पंदन पाता है। उन्होंने रहस्यवादी प्रवृत्तियों का सर्वत्र विरोध किया और जो लोग अव्यक्त के प्रति अपनी लालसा व्यक्त करने लगे, उन्हें भारतीय काव्य-दृष्टि से सर्वथा प्रतिकूल सिद्ध किया, क्योंकि 'भारतीय दृष्टि के अनुसार अज्ञात और अव्यक्त के प्रति केवल जिज्ञासा हो सकती है, अभिलाषा या लालसा नहीं। जिज्ञासा केवल जानने की इच्छा है, उसका संबंध शुद्ध ज्ञान के साथ होता है।

इसके विपरीत लालसा या अभिलाषा रतिभाव का एक अंग है। अतः अध्यक्ष या ब्रह्म की अभिलाषा बिल्कुल विदेशी कल्पना है और मजहबी रुकावटों के कारण पैगंबरी मत मानने वाले देशों में की गई है।'

उपर्युक्त उद्धरण शुक्ल जी की रहस्यवाद विषयक उपपत्ति का मौलिक आधार है। इसी के प्रतिमान में उन्होंने रहस्यवादी काव्यधारा को विदेशी प्रवृत्ति सिद्ध किया है। उनकी इस मान्यता में भारतीय रस-निष्पत्ति के उस सिद्धान्त की भी छाया है जो काव्य में विभाव की मूलता के अपरिहार्य अंग को निर्दिष्ट करता है। उनका तो स्पष्ट मत है कि काव्य में अध्यक्ष की लालसा सर्वथा अवैज्ञानिक है, अतः जो कवि अपनी कविता में बार-बार अध्यात्म और ब्रह्मवाद की चर्चा करते हैं, उन पर वे आचार्य और आलोचक के पद की गरिमा के अनुकूल खीझते हुए लिखते हैं–

"जो यह भी नहीं जानता कि ब्रह्मवाद और कविता किन चिड़ियों के नाम हैं, जो अंग्रेजी की अंधी नकल पर बनी बंगला की कविताओं तथा वैष्णव कवियों की अंग-समीक्षाओं तक ही सारी दुनिया खत्म समझता है, वह यदि मुंह बनाकर कहने लगे कि 'जब मैं ब्रह्मवाद की कोई कविता देखता हूं तब हर्ष से नाच उठता हूं' तो एक सुशिक्षित सुनने वाले पर क्या असर होगा?"

शुक्ल जी के इस कथन का मूल मंतव्य यही है कि ब्रह्मवाद जैसे दार्शनिक सिद्धान्तों को काव्य-क्षेत्र में घसीटना भारतीय काव्य-परंपरा के विरुद्ध है और कबीर तथा जायसी आदि कवियों ने अपनी कृतियों के बीच अद्वैतवाद, मायावाद, एकेश्वरवाद, प्रतिबिंबवाद आदि की अभिव्यंजना विभिन्न रूपकों, अन्योक्तियों तथा साध्यवसान रूपकों द्वारा की है, वह उनकी मान्यता में सांप्रदायिक है। इसी प्रकार संत-कवियों की बानियों में इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना आदि विभिन्न नाड़ी-चक्रों की जो चर्चा की गई है, उसका भी वे काव्य की प्रकृत-भावभूमि की दृष्टि से खंडन करते हैं।

5.2.4 छायावाद पर दृष्टिकोण

शुक्ल जी छायावाद या रहस्यवाद के नाम से रची जाने वाली कविताओं में अभिव्यंजनवाद के द्वारा बेल-बूटे बनाने वाली प्रक्रिया का विरोध करते हैं क्योंकि उनमें अभिव्यंजना के बाह्य कौशल के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। इसी विवेचन के प्रसंग में उन्होंने यूरोपीय काव्य-क्षेत्र में प्रचलित कलावाद, प्रतीकवाद, प्रभाववाद, प्रकृतवाद और संवेदनावाद आदि और भी अनेक वादों का विवेचन किया है और अंत में उनके अस्थायित्व की घोषणा कर उन्हें किसी भी रूप में आदर्श नहीं समझा है। उनका यह विश्लेषण इन वादों का पश्चिमी देशों में होने वाले क्रमिक विकास को भी स्पष्ट करने में सहायक हुआ है। शुक्ल जी छायावाद को विलायती चीजों का मुरब्बा कहते हैं। उनके मतानुसार छायावाद या रहस्यवाद काव्य-वस्तु (मैटर) से संबंध रखता है और अभिव्यंजनावाद का संबंध विधान विधि से होता है। उन्होंने बतलाया है कि छायावाद के अंतर्गत बहुत सी रचनाएं ऐसी भी हुई हैं जिनमें अभिव्यंजनावाद के अज्ञात अनुकरण के कारण बहुत सुंदर लाक्षणिक चमत्कार स्थान-स्थान पर मिलता है। वे हिंदी छायावादी और रहस्यवादी कवियों को अपना सत्परामर्श देते हुए कहते हैं कि "यदि वे वाद का सांप्रदायिक पथ छोड़ अपनी समग्र विशेषताओं के सहित प्रकृत काव्य-भूमि पर उतर आएं और अंग्रेजी तथा बंगला आदि भाषाओं की अंधी अनुकरण-वृत्ति को त्याग कर, लाक्षणिक

प्रयोगों में सावधानी से चलने लगें तो निश्चय ही उनकी काव्य-धारा अधिक स्वाभाविक और सुष्ठु बन सकती है।"

आचार्य शुक्ल जी के चिंतन की आधार-भूमि गोस्वामी तुलसीदास जी की भाँति अत्यंत मर्यादित और सधी हुई है। वे जीवन और जगत से परे किसी अलौकिक क्षेत्र में काव्य की साधना के लिए कोई गुंजाइश नहीं समझते थे। उनका तो स्पष्ट मंतव्य था कि मुक्त हृदय की अवस्था में ही सच्चे काव्य की अनुभूति होती है और "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा।" उनके मतानुसार "कविता हृदय की इस मुक्ति की साधना के लिए किया गया मनुष्य की वाणी का शब्द-विधान मात्र है और उसकी साधना ऐसे भाव-योग की साधना है, जिसे कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष रखा जा सकता है।"

5.2.5 अनुभूतियोग

वे कविता को बहुत ऊंचे धरातल पर स्वीकार करते थे, क्योंकि उनके मतानुसार कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-बंधनों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाती है, जहां जगत की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस भूमि पर पहुंचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता में लीन किये रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति-योग के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है।

शुक्ल जी ने जगत की अनेक रूपात्मकता की भांति हमारे हृदय की भावात्मक विविधता मानी है। इन भावों के परिष्करण के लिए वे जगत के विभिन्न रूपों के साथ हमारे हृदय की सामंजस्यपूर्ण अनुभूति आवश्यक समझते हैं। उनके मतानुसार मार्मिक स्वरूप में किया गया कवि का दृश्य-विधान ही सर्वथा काव्योपयोगी बनता है। जगत के साथ भावों के इस तादात्म्य में उन्होंने हमारे वासनाजन्य संस्कारों को बड़ा महत्व दिया है। वे काव्य का 'सृष्टि प्रसार के साथ अविच्छेद संबंध' स्वीकार करते हैं जो कहीं तो 'नरक्षेत्र' के भीतर ही अपना दृष्टि विधान करता है और कहीं मनुष्येतर बाह्य सृष्टि अथवा समस्त चराचर के अंतर्गत आविर्भूत होता है। आचार्य शुक्ल ने 'काव्य और सुभाषित अथवा सूक्ति' में अंतर माना है। 'सूक्ति में जहां केवल अभिव्यक्ति का अनूठापन, रचना-वैचित्र्य का चमत्कार तथा ऊपरी साज-बाज होता है, वहां काव्य में हमारे भावात्मक हृदय का प्रकृति विषय के साथ समन्वय रहता है।'

काव्य के दो भेद

आचार्य शुक्ल ने सत्, चित् और आनंद, ब्रह्म के इन तीन स्वरूपों में काव्य और भक्ति-मार्ग के लिए केवल उसके आनंद स्वरूप को स्वीकार्य समझा है। लोक में इस आनंद की अभिव्यक्ति की उन्होंने दो अवस्थाएं मानी हैं, जिनको दृष्टिगत रखकर वे काव्य के दो विभाग करते हैं–(1) आनंद की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य (2) आनंद की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य। शुक्ल जी की व्यावहारिक समालोचनाओं में रससिद्ध समालोचक की भावुकता का भी समावेश है, किंतु वे कहीं पर भी

उसके प्रवाह में ऐसे नहीं बह गए हैं कि उनकी शैली में अतिरिक्त और अनावश्यक चमत्कार और अलंकारिता आ गई हो और उनका समालोचक व्यक्तित्व कुंठित हो गया हो। शुक्ल जी ने एक ओर जहां काव्य के सैद्धांतिक पक्ष का चिंतन कर अपनी तथ्यग्राहिणी प्रज्ञा का परिचय दिया है वहीं दूसरी ओर उन्होंने अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं द्वारा भी समालोचना का बहुत उच्च और व्यापक प्रतिमान स्थापित किया।

5.3 शिवदान सिंह चौहान

शिवदान सिंह चौहान की हिंदी आलोचना में मार्क्सवादी आलोचक की छवि है। मार्क्सवादी सिद्धांतों का हिंदी में सर्वप्रथम उल्लेख 1937 में शिवदान सिंह चौहान ने 'भारत और प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' नामक लेख में किया। इसमें श्री चौहान ने वर्तमान साहित्य को पूंजीवादी प्रवृत्ति का परिणाम बताया है। इसका प्रधान लक्ष्य मार्क्सवादी दृष्टि से साहित्य का दिशा निर्देश करना है।

श्री शिवदान सिंह चौहान की आलोचनात्मक पुस्तकों में 'साहित्य की परख', 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष', 'साहित्यानुशीलन' आदि प्रमुख हैं।

5.3.1 प्रगतिवादी आलोचना सिद्धांतों की सैद्धांतिक दृष्टि

सैद्धांतिक आलोचना में साहित्य के विविध रूपों का चौहान ने विवेचन किया है, जिसका स्पष्टीकरण उनके एकांकी, नाटक, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, साहित्य की परख, शीर्षक निबंधों में होता है। उन्होंने 'कार्ल मार्क्स : जनवादी साहित्य की प्रेरक शक्ति' शीर्षक निबंध में मार्क्सवादी आलोचना पद्धति का समर्थन किया है। इनकी अधिकांश समीक्षाएं पंत, प्रेमचंद, अज्ञेय, अंचल, अश्क, जैनेंद्र आदि के साहित्य पर हैं।

शिवदान सिंह चौहान के अनुसार कविता का कार्य एक नूतन एवं श्रेष्ठतम कल्पनात्मक संसार की रचना करना है जो भ्रम होते हुए भी सत्य है। उनकी दृष्टि में कविता मनुष्य की स्वतंत्रता का अस्त्र है, लेकिन वह स्थूल अस्त्र के रूप में प्रयुक्त नहीं होती। नवीन अंत: प्रेरणाओं द्वारा भावजगत की सीमा विस्तृत करती जाती है। वह जीवन को श्रम एवं संघर्ष के भावों के रस से सींच कर मधुर बनाती है। कविता का यही उद्देश्य रहा है। वह सामाजिक जीवन एवं सामाजिक श्रम के साथ मनुष्य का 'मानवी' लगाव उत्पन्न करती है। वे साधारणीकरण का साधन भावों को नहीं सामाजिक आवश्यकताओं को मानते हैं।

श्री चौहान ने काडवेल की भांति ही साहित्य को 'समाज की गतिशीलता की अभिव्यक्ति' माना है। इस अर्थ में कविता अत्याचार और अन्याय के विरुद्ध मानवता की वाणी है। उनका मंतव्य है कि एक समय में रोमांटिक आलोचना ने कुछ अच्छी बातें कहीं थीं लेकिन बाद में उसे टी. एस. इलियट, हर्बर्ड रीड तथा आई. ए. रिचर्ड्स के आलोचना सिद्धांतों ने विकृत कर दिया। रोमांटिक आलोचना से उत्पन्न विकृतियों को दूर करने के लिए यथार्थवादी आलोचना ठीक वैसा ही प्रयास किया जैसा कि मार्क्सवादी चिंतन ने हीगल के गतिशीलता के सिद्धांत को ठीक करने के लिए किया। प्रगतिवाद एवं मार्क्सवाद रूप से कहीं ज्यादा वस्तु को महत्व देता है। ऐसी स्थिति में यह पुराने या नये रीतिवाद, चमत्कारवाद, प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद की जनवादी, आदर्शवादी, व्यक्तिवादी, कला दृष्टि का खंडन करता है।

इस प्रकार प्रगतिवादी आलोचना सिद्धांतों की सैद्धांतिक दृष्टि को डॉ. चौहान ने व्यापक स्तर पर स्पष्ट किया है। जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि वे मार्क्सवादी आलोचक हैं अतः मार्क्सवाद में उनकी गहरी आस्था है। वे कहते भी हैं कि "मार्क्सवाद को स्वीकार करना एक प्रगतिवादी के लिए आवश्यक है। उन्होंने मनोविश्लेषणवादी इलाचंद्र जोशी की इन स्थापनाओं का प्रबलता से खंडन किया है कि मार्क्सवादी आलोचना दृष्टि मात्र प्रोपेगंडा है। वे काडवेल के कला सिद्धांतों में भी गहरी आस्था रखते हैं और उनकी मूल आलोचना-दृष्टि को निर्मित करने में मार्क्स तथा काडवेल ने ही महत्वपूर्ण योगदान दिया है। वे कहते हैं "हमें स्वर्गीय काडवेल की स्थापना करनी चाहिए कि साहित्य या कला मनुष्य की स्वतंत्रता प्राप्त करने का एक साधन है।"

'कविता की आधुनिक व्याख्या' संबंधी निबंध में डॉ. चौहान ने काडवेल की काव्य सिद्धांत दृष्टि को समग्रता में ग्रहण किया है। इसी दृष्टि से उन्होंने यूरोप के भाववादी व्याख्याकार तथा नये स्कूल के पुरोधा ई. टी. हुल्मे के चित्रकल्पनावादी (इमेजिस्म), क्रोचे के अभिव्यंजनावाद, बादलेयर, बर्लेन, रेंब्रां, रोजिटी, मौरिस, आस्कर वाइल्ड और हौपमिंस का 'कला कला के लिए सिद्धांत, प्रतीकवाद, भविष्यवाद और हर्बर्ड रीड के अति वस्तुवाद (सर-रियलिज्म) और फ्रांस के अरागां और जीड तथा इंग्लैंड के लीविस, आडेन, रैंसस केनव रीतिवाद (न्यू क्रिटिसिज्म) तथा स्पेंडर के रोमांटिक यथार्थवाद का प्रबल खंडन किया है। क्योंकि इन सिद्धांतों में विकृति तथा पतन का प्रचार है।

5.3.2 भारतीय साहित्यशास्त्र का विवेचन

डॉ. शिवदान सिंह चौहान ने भारतीय साहित्यालोचन का भी विवेचन किया है। मार्क्सवादी समीक्षक होने के साथ-साथ भी उनका ध्यान भारतीय साहित्यशास्त्र पर भी रहा। अपनी कृति 'आलोचना के सिद्धांत' में उन्होंने रस-संप्रदाय, ध्वनि संप्रदाय, औचित्य संप्रदाय, रीति संप्रदाय, अलंकार संप्रदाय एवं वक्रोक्ति-संप्रदाय आदि का पूर्णता से विवेचन किया है। उनके द्वारा भारतीय साहित्यालोचन की परंपरा को दो भागों में विभाजित कर दिया गया।

1. उपयोगितावादी वर्ग-रस, ध्वनि तथा औचित्य

2. रूपवादी या नवरीतिवादी वर्ग या शरीरवादी वर्ग रीति, अलंकार एवं वक्रोक्ति।

रस सिद्धांत का विवेचन करते समय उसे डॉ. चौहान 'कला निर्मिति शास्त्र का भारतीय प्रमेय कहते हैं। डॉ. चौहान ने स्थान-स्थान पर भरत एवं अरस्तू के सिद्धांतों की भी तुलना की है। उनके अनुसार अनेक पाश्चात्य सिद्धांतों के प्रकाश में रस सिद्धांत को रखकर देखने से स्पष्ट हो जाता है कि "मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, रोमांटिक, यथार्थवादी, प्रतीकवादी, यथा तथ्यवादी किसी भी प्रवृत्ति का लेखक या कलाकार हो, वह रस से न तो कलाकृति का और न पाठक या दर्शक का विच्छेद कराने में समर्थ हो सका है। क्योंकि रस का विचारसूत्र हमारी एक सामान्य और जीवंत विरासत है। उनका मानना है कि रस कलानिर्मिति या उसके आस्वादन की संश्लिष्ट अवधारणा है।

काव्य हेतु संबंधी मान्यताओं के विचार से डॉ. चौहान अभिनवगुप्त के बड़े समर्थक हैं। मूल्यांकन में औचित्य सिद्धांत- उन्हें भरा-पूरा लगता है और वक्रोक्तिकार के प्रतिभावान रूप की धाक मानते हैं। भारतीय काव्य-चिंतन में उपयोगितावादी सिद्धांत- रस, ध्वनि तथा

औचित्य– "काव्य कला संबंधी कुछ ऐसे व्यापक और सार्वजनीन सौंदर्य सिद्धांतों का विकास कर सके, जिनकी उद्‌भावना स्वतंत्र रूप से पाश्चात्य चिंतकों ने भी की है या कर रहे हैं।" कला के रूपवादी सिद्धांत अलंकार रीति तथा वक्रोक्ति भी उन्हें एक सीमा तक प्रभावित करते हैं– क्योंकि उनके मत से वक्रोक्तिवाद ने 'एक व्यापक सौंदर्यशास्त्र' की उद्‌भावना की है, वक्रोक्ति सिद्धांत के प्रति परवर्ती आचार्यों ने जो विरोध प्रकट किया, वह क्षोभ का विषय है। वास्तव में रस सिद्धांत में ही रूप निर्माण की प्रक्रिया के रूप में वक्रोक्ति का समाहार होते हुए वे नये प्रकार के रसवादी हैं। यहां उनका चिंतन भी आचार्य शुक्ल के काफी नजदीक है।

आलोचना-सिद्धांतों की गहन दृष्टि की थाह पाने के लिए वे प्लेटो से लेकर बीसवीं शताब्दी के काव्य सिद्धांतों तक की चर्चा विस्तार से करते हैं। किसी भी सिद्धांत का खंडन करने से पहले उसका विवेचन करते हैं– तब अपनी बात करते हैं। फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र तथा सार्त्र के अस्तित्ववाद की नकल भारतीय समीक्षा में होते हुए देखकर वे अत्यंत दुखी होते हैं– कारण कि लेखकों तथा आलोचकों ने उनकी नकल करके आस्था, कुंठा, मानवद्रोह और समाज-निरपेक्ष को साहित्यिक कृतित्व का लक्ष्य बना लिया है। 'कला कला के लिए' रूपवादी सिद्धांत का वे घोर प्रतिक्रियावादी दृष्टि अपनाने के कारण खंडन करते हैं। उनकी दृष्टि में प्रतीकवाद, प्रभाववाद, अभिव्यंजनावाद चेतना, प्रवाहवाद आदि मानव को भटकाने वाले जीवन विरोधी सिद्धांत हैं। 'पश्चिमी प्रयोगवाद' भी पूंजीवाद की दलाली का दर्शन है। इसलिए डॉ. चौहान आई.ए. रिचर्ड्स, टी.एस. इलियट, जान क्रोरेन्सस, माडेन आदि को उसका प्रचारक कहते हैं।

5.3.3 यथार्थवादी आलोचना सिद्धांतों का प्रभाव

स्वच्छंदतावादी आलोचना की बुराइयों से दूर यथार्थवादी आलोचना सिद्धांत जिन्हें रूसी विचारक वेलिन्स्की और टॉलस्टाय ने रचा है– उन्हें प्रभावित करते हैं। इन्हें सेंट-ल्यूब तथा टेन के सिद्धांतों की समाज-दृष्टि तथा कला दृष्टि भी आती है। वेलिन्स्की के तीन काव्य प्रतिमान–'वास्तविकता', 'कलात्मक पूर्वता', और 'प्रतिभा' को उन्होंने पूरी तरह ग्रहण किया है। इन सभी की पूर्णता डॉ. चौहन 'प्रगतिवाद समाजवादी यथार्थवाद' में पाते हैं। यह सिद्धांत असामाजिक-अनैतिक, कुंठावादी व मानवद्रोही व्यक्तिवाद के स्थान पर मानववाद का समर्थन करता है।

वे मानते हैं कि तात्विक दृष्टि से आलोचना में यथार्थवाद प्रगतिवाद, समाजवाद, साम्यवाद की प्रवृत्तियां सजातीय हैं। 'साहित्य के मूल्यांकन' की समस्या नामक निबंध इनकी सैद्धांतिक दृष्टि का सार प्रस्तुत करता है। कला एक सामाजिक वस्तु है जिसमें आस्थावाद आशावादी-मानवतावादी मूल्यों को ही वे सच्चे प्रगतिशील मूल्य मानते हैं। रूपात्मक आलोचना पाठक तथा मूल्यों को ठुकराकर चलती है– वह केवल अफेक्टिव फैलेसी के चक्कर में पड़कर कला दृष्टि को भ्रष्ट करती है। उसकी दृष्टि में रूप का साक्षात्कार ही कलाकृति का चरम लक्ष्य है। रूप को चरम मानने वाली दृष्टि को वे पतनशील पूंजीवादी-प्रतिक्रियावाद दृष्टि का घृणास्पद रूप मानते हैं।

उनके मत से "कलाकृति समग्र जीवन का वैविध्यपूर्ण और मूर्त प्रतिबिंब होती है। इसलिए उसमें मानव-संबंधों, कार्यों, भावों, विचारों, नैतिक मान्यताओं, सामाजिक और

व्यक्तिगत संघर्षों और समस्याओं की मूर्त और सजीव झांकी होती है।" कलावस्तु की सामाजिकता के साथ पाठक की प्रभाव-ग्रहण क्षमता को भी वे अत्यधिक महत्व देते हैं क्योंकि मार्क्सवादी कला में इसका बड़ा सम्मान है। यह दृष्टि ही पाठक को एब्सोल्यूटिज्म फैलेसी के अंधे कूप में कूदने से बचा सकती है।

वे नयी आलोचना को एब्सोल्यूटिज्म एनालिसिस के कारण 'आधुनिक युग का रीतिवाद' मानते हैं। प्रयोगवादी कवियों की निंदा करते हुए वे कहते हैं कि ये रीतिवाद की भांति समाज को भटकाना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में रचना की 'साहित्यिकता', 'सामाजिकता', 'वास्तविकता' को परखने के लिए मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि को ग्रहण करना चाहिए क्योंकि चौहान के मत से "साहित्यालोचन की मुख्य समस्या 'आंतरिक संगति का विश्लेषण' नहीं बल्कि मूल्यांकन है।"

अत: इस प्रकार कहा जा सकता है कविता को नये काव्यशास्त्र में प्रवृत्त करने वाली डॉ. चौहान की दृष्टि में भारतीय तथा पाश्चात्य प्रगतिशील विचारों एवं मूल्यों का समन्वय मिलता है।

5.4 आचार्य नंददुलारे वाजपेयी

पश्चिम उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले में जन्मे आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का हिंदी मूर्धन्य प्रबुद्ध समालोचकों में अप्रतिम स्थान है। 'हिंदी साहित्य, बीसवीं शताब्दी', 'नया साहित्य नए प्रश्न', 'आधुनिक साहित्य', 'कवि निराला', 'कवि प्रसाद', 'महाकवि तुलसीदास' इनकी प्रमुख समालोचनात्मक कृतियां हैं। आचार्य वाजपेयी आधुनिक काल के स्वच्छंदवादी (छायावादी) युग के समीक्षकों में एक सशक्त हस्ताक्षर हैं। उन्होंने आधुनिक साहित्य के साथ-साथ संस्कृत काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों पर भी समीक्षात्मक दृष्टि डाली है।

5.4.1 पांच संप्रदायों पर मत

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति एवं ध्वनि मतों पर टिप्पणी करते हुए काव्यात्मा के रूप में 'रस' को ही स्वीकार करते हैं। वे मानव हृदय में उत्पन्न होने वाले सौंदर्य संवेदन को 'रस' कहते हैं। आचार्य वाजपेयी कहते हैं कि 'रस' का हमारे यहां दुरुपयोग भी कम नहीं किया गया। 'रस' की परिभाषा हो, संख्या हो, नाम हो या इसके विविध तत्वों से संबंध हों, विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से इसका प्रस्तुतीकरण किया। अलंकार मत के संबंध में उनकी धारणा है कि-"यदि अलंकार मत का विकास और परिपोषण भामह द्वारा स्थिर प्रणाली पर होता रहता, तो यह असंभव न था कि अलंकार-सिद्धांत की गणना एक स्वतंत्र सिद्धांत के रूप में होती, किंतु संस्कृत साहित्य के सैद्धांतिक विकास का क्रम इसके विपरीत मार्ग पर चला। अलंकार-संप्रदाय का उत्कर्ष स्थिर न रह सका और उसके समस्त उपकरण इसके अंतर्गत बने न रह सके, जिसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि स्वत: अलंकार संप्रदाय अपनी स्वतंत्रता एवं आत्मनिर्भरता को छोड़कर कभी रीति, कभी रस और वक्रोक्ति संप्रदाय का अंग-मात्र बन गया।" आचार्य वाजपेयी की तत्वान्वेषिणी दृष्टि गुण एवं दोषों की ओर भी गई है। वे कहते हैं, "गुण व दोष मत का रीति तथा अलंकार संप्रदायों से कब कैसा संपर्क स्थापित हुआ और पारस्परिक

आदान-प्रदान के सिद्धांत के अनुसार ये विभिन्न संप्रदाय किस क्रम से समन्वित होते गए, यह भारतीय साहित्य शास्त्र के इतिहास का एक शोधनीय विषय है।" कुछ मत ऐसे भी हैं जो रस, अलंकार आदि प्रमुख सिद्धांतों का विरोध न करते हुए भी उनमें समन्वय लाने की चेष्टा करते हैं। ऐसे मतों को स्वतंत्र मत की पदवी नहीं दी जा सकती। उदाहरण के लिए, क्षेमेंद्र का औचित्य नामक मत, जिसमें विभिन्न काव्य-तत्वों के समन्वय की योजना है।" तात्पर्य यह है कि आचार्य वाजपेयी औचित्य को एक स्वतंत्र मत या संप्रदाय की तरह नहीं स्वीकार करते बल्कि उसे मुख्य पांच मतों में ही निहित मानते हैं।

5.4.2 रसनिष्पत्ति

भरतमुनि के रस सूत्र–'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगातद्रनिष्पतिः' में 'संयोग' और 'निष्पत्ति' का अर्थ समझाने के लिए चार आचार्यों, भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक एवं अभिनव ने अपनी-अपनी व्याख्याएं प्रस्तुत कीं। आचार्य वाजपेयी ने इन चारों व्याख्याओं की विस्तार से समीक्षा की है। भट्ट लोल्लट के उत्पत्तिवाद शंकुक का अनुमितिवाद, भट्टनायक के भुक्तिवाद एवं अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद इन चारों वादों को आधुनिक मनोवैज्ञानिक या सौंदर्यशास्त्र संबंधी दृष्टि से देखने की भी आवश्यकता है तथा जिस तार्किक क्रम में ये मत उपस्थित किये गए हैं, जिस तरह इन्हें सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है उससे यह पता चलता है कि शास्त्रकारों को इनके मूल में मौलिकता और तात्विकता का अनुभव हुआ होगा, ऐसा आचार्य वाजपेयी का मानना है। वे यह भी कहते हैं कि–जिस प्रकार वेदांत मत के रहते हुए भी अपने-अपने स्थान पर मीमांसा, न्याय और सांख्य मतों की भी पूर्ण प्रतिष्ठा है, उसी प्रकार अभिनवगुप्त के ध्वनिमत का निरूपण हो जाने पर भी पूर्ववर्ती तीनों आचार्यों की उपपत्तियां निरी निरर्थक नहीं हो जाती हैं। चारों मतों की समीक्षा के उपरांत आचार्य वाजपेयी इनका महत्वपूर्ण स्थान निर्धारित करते हुए कहते हैं–"चारों मत क्रमशः काव्य की प्रेषणीयता और काव्य-रस के आस्वादन की समस्या को समझाने का प्रयत्न करते हैं और उनमें से प्रत्येक मत समस्या के एक-एक पहलू को लेकर आगे बढ़ता है। कवि-कल्पित नायक से लेकर अभिनेता के नाट्य-प्रदर्शन, सहृदय की भावना और काव्य की ध्वन्यात्मकता के पक्षों की व्याख्या करने वाले ये मत, हमारी दृष्टि में काव्य की एक अत्यंत आवश्यक समस्या के उद्घाटन की एक क्रमबद्ध योजना के रूप में उपस्थित किये गए हैं।" आचार्य वाजपेयी भट्टनायक के भुक्ति-सिद्धांत को शंकुक के अनुमति-सिद्धांत से एक कदम आगे मानते हैं।

5.4.3 साधारणीकरण की सीमा

'साधारणीकरण' के संबंध में आचार्य वाजपेयी भट्टनायक से असहमति व्यक्त करते हुए अपना मत प्रस्तुत करते हैं कि–"यह कहा जाना कि देवताओं और पूज्य व्यक्तियों के रति-भाव का साधारणीकरण प्रेक्षक को नहीं हो सकता, असाहित्यिक दलील है क्योंकि देवता या पूज्य चरित्र कवि और श्रोता दोनों के लिए समान पूज्य है। ऐसी अवस्था में कवि द्वारा वर्णित देवताओं का रतिभाव दर्शकों, श्रोताओं को उसी प्रकार प्रभावित करेगा, उसी भाव की सृष्टि करेगा, जिस भाव की अनुभूति कवि या नाटककार ने स्वतः की है। उससे भिन्न भाव की सृष्टि नहीं हो सकती।

वाजपेयी जी ने विवेचन की तथ्यपरकता की दृष्टि से साधारणीकरण का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया–"साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता (कवि और दर्शक) के बीच भावना का तादात्म्य ही है। साधारणीकरण वास्तव में कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होता है, केवल किसी पात्र विशेष का नहीं। इस तथ्य को न समझने के कारण ही साधारणीकरण के प्रश्न पर अनेक निरर्थक विवाद होते रहे हैं।"

5.4.4 आचार्य शुक्ल से मतवैभिन्य व छायावाद की प्रतिष्ठा

वाजपेयी जी को आधुनिक हिंदी-समालोचना के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान कराने में उनकी समीक्षा-कृति 'हिंदी साहित्य, बीसवीं शताब्दी' को सर्वप्रथम स्थान दिया जा सकता है। वाजपेयी जी ने पूर्वाग्रह अथवा दुराग्रह की भावना से दूर रह कर एक निर्णायक समीक्षक के रूप में समालोच्य साहित्यकारों के संबंध में अपनी विवेकपूर्ण सम्मति निस्संकोच भाव से प्रकट की है। वे शुक्ल-युग की नैतिकता और मर्यादा में ही काव्य-समीक्षा का व्यापक रूप न देख कर उसे सौंदर्यमूलक स्वच्छंदतावादी दृष्टि से विवेचित करना अच्छा समझते हैं। वाजपेयी जी का हिंदी समीक्षकों की श्रेणी में विशेष स्थान है।

"काव्य का महत्व तो काव्य के अंतर्गत ही है, किसी भी बाहरी वस्तु में नहीं। सभी बाहरी वस्तुएं काव्य-निर्माण के अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों का निर्माण कर सकती हैं, वे रचयिता के व्यक्तित्व पर विभिन्न प्रकार के प्रभाव डाल सकती हैं और डालती भी हैं, पर इन स्वीकृतियों के साथ हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि काव्य और साहित्य की स्वतंत्र सत्ता है, उसकी स्वतंत्र प्रक्रिया है और उसकी परीक्षा के स्वतंत्र साधन हैं। काव्य तो मानव की उद्भावनात्मक या सर्जनात्मक शक्ति का परिणाम है। उसके उत्कर्ष-अपकर्ष का नियंत्रण बाह्य-स्थूल व्यापार या बाह्य बौद्धिक संस्कार और आदर्श थोड़ी ही मात्रा में कर सकते हैं।" यह वाजपेयी जी की प्रतिभा का ही चमत्कार था जिसने द्विवेदी-युग में कदर्थित किये गए छायावादी कवियों को साहित्य-जगत में उच्च स्थान प्रदान किया और उनके काव्य-परीक्षण के लिए जिस प्रकार का प्रतिमान होना चाहिए, उसकी समालोचना-क्षेत्र में प्रतिष्ठा की। इस दृष्टि से वे 'शुक्लोत्तर-युग' की प्रमुख प्रवृत्ति 'सौंदर्यमूलक स्वच्छंदतावाद' के प्रवर्तकों में से हैं और कालांतर में इस समीक्षा-धारा ने जो विकास किया है, उसके अधिकांश तत्वों के निर्माण का श्रेय आचार्य वाजपेयी जी को है।

वाजपेयी जी की समालोचनाओं का एक प्रमुख अंश साहित्य के क्षेत्र में समय-समय पर उद्भूत होकर विकास करने वाले विभिन्न वाद-प्रवादों की समीक्षा है। उन्होंने छायावाद, रहस्यवाद, परंपरावाद और प्रयोगवाद जैसे प्रमुख साहित्यिक वादों के साथ-साथ यथार्थवाद, आदर्शवाद, परंपरावाद, स्वच्छंदतावाद, अनुकृतिवाद और अभिव्यंजनावाद आदि काव्य-मतों का विवेचन अत्यंत प्रांजल शैली में किया है। ये विवेचन उनकी अध्ययनशील प्रज्ञा और चिंतनशील विचारणा के मुख्य प्रतिबिंब है। वाजपेयी जी का छायावाद विषयक विवेचन तो अत्यंत प्रौढ़ और व्यापक धरातल पर अधिष्ठित है। उनके पूर्व जिन आचार्यों ने छायावाद की विवेचना की थी, उसमें उसके प्रति आक्रोश का स्वर ही उदात्त था, जिसका परिणाम यह हुआ कि छायावाद का सौंदर्य-पक्ष उनसे उद्घाटित नहीं हो सका। उस युग में छायावादी कवियों ने स्वयं उक्त वाद के विषय में अपनी धारणाएं व्यक्त कीं, किंतु उनके समर्थन की आवश्यकता सर्वत्र अनुभव की जा रही थी। वाजपेयी जी का छायावाद-विषयक विश्लेषण ऐसे समय में

अत्यंत उपयुक्त सिद्ध हुआ। उन्होंने सर्वप्रथम तो उस भ्रांति के निवारण की चेष्टा की जिसके कारण छायावाद को भक्तिकालीन काव्य की भांति एक विशेष प्रकार की आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाता था और जिसके रचयिताओं का मानसिक संस्थान भक्त-कवियों की कोटि में प्रक्षिप्त करने की एक विचार-परंपरा बन रही थी। वाजपेयी जी ने पर्याप्त प्रमाण देकर इस विषय का स्पष्टीकरण किया कि "छायावाद में भक्ति-काव्य की साकार वर्णनाओं के विपरीत निराकार पद्धति तो है ही, किंतु वे निराकार व्यंजनाएं भी कबीर जैसे ज्ञानमार्गी और जायसी जैसे सूफी कवियों से भिन्न कोटि की है।" सच तो यह है कि उनके मत से केवल 'अध्यात्मवाद' की तुलना से ही कवियों के मानसिक धरातल का विवेचन करने की अपेक्षा उन प्रेरक शक्तियों को विशेष महत्व दिया जाना चाहिए, जिनसे इस विषय का बोध हो सके कि काव्यकारों ने किस प्रकार का मौलिक विधान अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है। उनका तो स्पष्ट निर्णय है कि "नई छायावादी काव्य-धारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है परंतु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। उसे हम बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक और भौतिक प्रगति की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं।" वाजपेयी जी ने इसी विवेचन के प्रसंग में मध्यकालीन हिंदी काव्य और आधुनिक छायावादी काव्य के उन मौलिक विभेदों का पर्यवेक्षण भी किया है जिनके कारण 'मध्यकालीन काव्य की सीमा में मानव-चरित्र और दृश्य-जगत अपने प्रकृत रूप में उपेक्षित ही रहे, जबकि नवीन काव्य में समस्त मानव-अनुभूतियों की व्यापकता पूरा स्थान पा सकी।'

5.4.5 प्रगतिवादी साहित्य का चिंतन

वाजपेयी जी की समालोचनाओं में किसी भी विषय को केवल सांप्रदायिक अथवा सीमित दृष्टिकोण से विवेचित करने की प्रवृत्ति का विरोध मिलता है। यद्यपि उनका मुख्य विवेच्य विषय आधुनिक साहित्य है, किंतु उन्होंने पुरातन साहित्य को भी नवीन प्रतिमानों में परीक्षित करने की आवश्यकता पर अधिक बल दिया है। वाजपेयी जी प्रगति को जीवन साहित्य की एक अनिवार्य प्रक्रिया मानते हुए उसकी संस्थिति प्रत्येक युग में अनिवार्य समझते हैं, क्योंकि उसके बिना हमारे सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन में विकास की कल्पना ही नहीं की जा सकती। उन्होंने मनुष्य की सामाजिकता को महत्व देकर साहित्य को केवल व्यक्तिगत भावों के प्रदर्शन की ही भूमि नहीं माना है, अपितु उसका संबंध हमारी सामाजिक चेष्टाओं से भी जोड़ा है, जिनके कारण हमारे व्यक्तित्व को उन्नयन प्राप्त होता है। उनके मतानुसार व्यक्ति या समाज के बीच चलने वाले स्वाभाविक आदान-प्रदान को सचेत होकर ग्रहण करना काव्य-साहित्य को प्रगतिशील ही नहीं बनाता, अपितु उसे उत्थान भी प्रदान करता है। इस प्रकार उन्होंने प्रगतिशील साहित्य के लिए किन्हीं विशेष प्रकार की जीवन आस्थाओं अथवा बंधी-बंधाई परंपराओं में चलना अहितकर माना है, क्योंकि ऐसा करने से हम साहित्य के उस उदात्त लक्ष्य की अवहेलना कर देते हैं जिसके कारण उसे शाश्वत गौरव प्राप्त होता है।

वाजपेयी जी के प्रगतिशील साहित्य-विषयक विवेचन से स्पष्ट है कि वे प्रगति को जीवन के साथ ऐसे स्वरूप में संगठित करना उचित समझते हैं जिससे "जीवन संबंधिनी आधारभूत चेतना साहित्य से लुप्त न हो जाए, हम मृत्यु के अथवा अगति के उपासक न बन जाएं, निराशा और आत्मपीड़न को अर्घ्य न देने लगें।" इससे उनका यह अभिप्राय नहीं कि

"साहित्य में करुण रस अथवा ऊंचे आदर्श की कल्पनाओं का कोई स्थान नहीं है अपितु यह आशय अवश्य है कि 'साहित्य में आशा, निराशा, करुण और वीर' आदि के लिए समान स्थान है किंतु उनकी नियोजना प्रगतिमूलक और उद्देश्यमूलक होनी चाहिए।" उन्होंने साहित्य का युग जीवन के साथ संबंध स्वीकार किया है किंतु वे यह उचित नहीं समझते कि युग-जीवन की निराशा के पीछे हम आत्मविस्तृत हो जाएं। सच तो यह है कि उन्हें मृत्यु से अधिक वरेण्य जीवन लगता है अत: प्रगतिशील साहित्य में उसका अभिव्यंजन ऊर्जस्वित रूप में किया जाना ही सर्वथा समीचीन है।

वाजपेयी जी ने बुद्धिवादी सूत्र के आधार पर कुछ मनोवैज्ञानिक निदर्शन प्रस्तुत करते हुए अति शृंगारोन्मुख, अति उदासीन, केवल कौतूहलपूर्ण तथा केवल मनोरंजक प्रवृत्तियों को प्रगतिमूलक नहीं माना है। उनका तो स्पष्ट कहना है कि 'बाह्य संघर्ष की अपेक्षा बौद्धिक और मानसिक संघर्ष का प्रगतिशील साहित्य में अधिक महत्व है।' उन्होंने प्रगतिशील साहित्य को समय-सापेक्ष निर्दिष्ट कर ऐसे तीन सूत्रों की आयोजना की है जिसके द्वारा प्रगतिशील साहित्य का स्वरूप अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है। उन सूत्रों में–पहला सूत्र आत्मचेतना या जीवन-चेतना का है जिसके अभाव में साहित्य अथवा कला का वास्तविक निर्माण हो ही नहीं सकता। उन्होंने प्रगतिशील साहित्य का दूसरा सूत्र यह माना है कि वह परिवर्तन के क्रम को समझते हुए नवीन समस्याओं के संपर्क में आए और नवीन ज्ञान का उपयोग करना जाने। तीसरे सूत्र के अंतर्गत उन्होंने कला-निर्माण के पक्ष को महत्व दिया है। इन तीनों सूत्रों में उन्हें प्रगतिशील साहित्य की बाह्य तथा आभ्यंतरिक विशेषताओं का संपूर्ण संयोजन मिला है, जिसे स्वीकार करते हुए चलने से किसी भी प्रकार की रूढ़ि का साहित्य में संचार नहीं हो सकता और वह अधिकाधिक उत्थानमूलक बन सकता है। वाजपेयी जी ने इन तीनों सूत्रों के संबंध में होने वाली भ्रांतियों का भी निराकरण किया है और बतलाया है कि आधुनिक युग में समाजवादी विचारों का क्षेत्र श्रेष्ठ साहित्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है, किंतु वह किसी विशेष प्रकार की संकीर्ण मतवादी धारा के अंतर्गत संकुचित होकर नहीं प्रकट होना चाहिए। सच तो यह है कि वाजपेयी जी के मतानुसार कला का लक्ष्य प्रचार न होकर सृष्टि होता है और कला की प्रगतियां नई प्राण-प्रतिष्ठा, नए तौर-तरीके (टैक्नीक), नूतन छंद, नवीन भाषा और नई भावाभिव्यक्ति आदि हैं जो विशुद्ध साहित्यिक स्वरूप में प्रकट होती हैं। वे काव्यात्मक सृजन और प्रयोग में मौलिक अंतर मानते हैं और उनके मतानुसार कवि का सर्वप्रथम उत्तरदायित्व अपनी रसात्मक अनुभूतियों के प्रति होता है जबकि प्रयोग को ही सब कुछ मानने वाला साहित्यकार उसकी मूल चेतना से बहुत अधिक दूर और हटा हुआ रहता है।

5.4.6 प्रयोगवादी साहित्य का चिंतन

वाजपेयी जी का प्रयोगवाद-विषयक विवेचन अत्यंत व्यापक और युक्ति संगत है। प्रयोगवाद के संबंध में उनके विचारों का निष्कर्ष इस प्रकार है–

'प्रयोगवाद हिंदी में बैठे-ठाले का धंधा बन कर आया था। प्रयोक्ताओं के पास न तो काव्य-संबंधी कोई कौशल था और न किसी प्रकार की कथनीय वस्तु थी। धीरे-धीरे इस मजाक में भी सच्चाई जान पड़ने लगी और कुछ लोग इस अर्थहीन वस्तु में भी एक नए 'वाद' की संभावना देखने लगे। क्रमश: यह भाषा-संबंधी बीहड़ प्रयोगों का अड्डा बन गया जिससे पाठकों को भी थोड़ी बहुत दिलचस्पी होने लगी। आगे चलकर इसमें टी.एस. इलियट की शैली

में आधुनिक जीवन के खोखलेपन का परिचय कराया जाने लगा। यह वाद हिंदी में आरंभ से ही मध्यवर्ग के हार खाए और फिर भी शौकीन तबियत वाले व्यक्तियों के हाथ में रहा है। पिछले कुछ दिनों से इसमें इन निष्क्रिय व्यक्तियों की निराशा और गिरा हुआ मन प्रतिबिंबित होने लगा है। आश्चर्य नहीं, यदि निकट भविष्य में यह यही रंगत धारण करे जो पश्चिम में अति यथार्थवादियों की रचनाओं ने धारण किया है।'

5.4.7 विभिन्न वादों पर चिंतन

उन्होंने धार्मिक और नैतिक मूल्यों को प्रधानता देकर चलने वाले आदर्शवाद के लिए यथार्थ दृष्टि की आवश्यकता अनिवार्य बतलाई है तो आधुनिक यथार्थवाद में मार्क्सवादी द्वंद्वात्मक भौतिकवाद तथा फ्रायड और एडलर के सिद्धांतों के अनुयायी अंतश्चेतनावाद के दुर्बल पक्ष का भी उद्घाटन किया है, जिनके अध्ययन से वाजपेयी जी के इन वादों की साहित्यगत महत्ता विषयक विचारों का सहज ही बोध हो जाता है।

वाजपेयी जी ने पश्चिमी काव्यमत के मूल प्रेरक अनुकृतिवाद का विश्लेषण प्लेटो और अरस्तू की विचारधारा के अनुरूप किया है जो सामान्यतः परिचय-मूलक कहा जा सकता है। उन्होंने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का विश्लेषण करने के पूर्व यूरोपीय काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में किये गए लैसिंग, विंकैलमेन तथा कांट के उन सौंदर्यमूलक और कालाभिव्यंजक विचारों का उद्घाटन किया है जिनसे क्रोचे को काव्यगत अभिव्यंजनावाद की प्रतिष्ठा करने में प्रेरणा मिली है। उनके क्रोचे के अभिव्यंजनावाद विषयक विवेचन में उक्त वाद की प्रमुख विशेषताओं के साथ-साथ इस विषय का भी सामान्य निरूपण हो गया है जो क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के संबंध में आक्षेप करते हुए विवेचित किये जाते हैं। इसी प्रकार पश्चिमी साहित्य में परंपरा (क्लेसीसिज्म) और स्वच्छंदता (रोमेंटिसिज्म) संबंधी जिन दो प्रमुख काव्य-शैलियों का युग-परिस्थिति के अनुकूल जिस रूप में विकास हुआ है उनका मूल विभेद स्पष्ट करते हुए उन्होंने बतलाया है कि 'प्रथम प्रकार की शैली में वस्तु और शैली दो पृथक सत्ताएं हैं जबकि द्वितीय प्रकार की शैली में काव्य की मूल वस्तु भावना है जिसके अंतर्गत उसके अन्य उपादान सन्निविष्ट किये जा सकते हैं।' पश्चिम के इन विभिन्न काव्य-मतों के अतिरिक्त वाजपेयी जी ने भारतीय काव्य-मतों का भी विश्लेषण किया है, जिनमें 'अलंकारमत, रीतिमत, गुणमत, वक्रोक्तिमत, ध्वनिमत और रसमत' प्रमुख हैं।

5.4.8 काव्य परिभाषा

अन्यान्य आलोचकों की भांति वाजपेयी जी भी साहित्य का मूल प्रयोजन या हेतु आत्मानुभूति मानते हैं जिसका अभिप्राय है कि "साहित्य की सृष्टि आत्मानुभूति की प्रेरणा से होती है।" उनका तो दृढ़ विश्वास है कि "काव्यानुभूति स्वतः एक अखंड आत्मिक व्यापार है, जिसे किसी भी दार्शनिक, राजनीतिक, सामाजिक या साहित्यिक खंड-व्यापार या वाद से जोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं।"

वाजपेयी जी के मतानुसार कवि की सामाजिकता और युग-विशेष की परिवर्तनशीलता का महत्व होने पर भी इस सत्य की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए कि साहित्य सामाजिक इतिहास का अंग-मात्र ही नहीं, अपितु वह एक स्वतंत्र कथा-वस्तु है जिसे वाणी और मानव-भावना का ऐसा साकार वैभव कहा जा सकता है जिसमें सामाजिकता-मात्र का निर्वाह

ही सब कुछ नहीं होता। तात्पर्य यह कि वाजपेयी जी साहित्य में समाज, सामाजिक जीवन तथा सामाजिक विचारधाराओं और वादों का संबंध अवश्य मानते हैं किंतु यह संबंध अनुवर्ती रूप में ही माना जाना चाहिए, क्योंकि साहित्य की अपनी स्वतंत्र सत्ता है और उसके अंतर्गत ही सामाजिक प्रगति एक अंग बनकर आ सकती है। साथ ही साथ वाजपेयी जी का यह भी कहना है कि गद्य, पद्य, श्रव्य, दृश्य, प्रबंध, मुक्तक आदि विभेदों की दृष्टि से साहित्य के देशकालगत अनेक प्रकार और प्रकृतियां भी हो सकती हैं किंतु उनकी बाह्य बहुरूपता में एक ऐसी अंतर्व्यापिनी एकता भी रहती है जिसकी खोज करना साहित्य का कार्य होता है। वाजपेयी जी ने अपनी इस मान्यता के अनुसार ही काव्य की परिभाषा करते हुए उसे "प्रकृत मानव-अनुभूतियों का नैसर्गिक कल्पना के सहारे ऐसा सौंदर्यमय चित्रण माना है जो मनुष्य मात्र में स्वभावतः अनुरूप भावोच्छ्वास और सौंदर्य-संवेदन उत्पन्न करता है।" यही सौंदर्य संवेदन भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में रस-संज्ञा से अभिहित होता है।

5.4.9 समालोचना संसार

वाजपेयी जी मुख्यतः आधुनिक साहित्य के समालोचक हैं, अतः उन्होंने आधुनिक साहित्यकारों के साथ उन कृतियों का भी विशेष रूप से मूल्यांकन और समीक्षण किया है जो आधुनिक युग में महत्वपूर्ण समझी जाती है। 'साकेत', 'कामायनी', 'कुरुक्षेत्र', 'कुणाल', 'कृष्णायन' जैसे काव्यों और 'गोदान', 'त्यागपत्र' और 'शेखर : एक जीवनी' जैसे उपन्यासों को ऐसे विवेच्य विषयों में प्रधानता दी गई है। इस प्रकार की समीक्षाओं से जहां एक ओर विवेच्य रचनाओं के अंतरंग और बहिरंग पक्षों का सूक्ष्म पर्यवेक्षण हुआ है, वहीं दूसरी ओर उनके रचयिताओं के मानसिक विकास का विश्लेषण भी युग, परिस्थिति तथा आंतरिक प्रेरणाओं को लक्ष्यभूत बनाकर किया गया है। इन विवेचनाओं में विवेच्य विषय के साथ-साथ तुलनात्मक पद्धति का भी प्रयोग है, जिसके द्वारा समालोचना का स्तर अधिक प्रमाणसम्मत और व्यापक बन गया है। वाजपेयी जी को रचना तथा मीमांसा का सौंदर्य विधायक और जीवन निरूपक पक्ष का केवल वही स्वरूप विशेष प्रिय है जिसमें प्रचारवादी दृष्टिकोण को महत्व न देकर सच्ची आत्माभिव्यक्ति से साहित्य निर्माण किया गया है। इस प्रकार की समालोचनाओं में वे सर्वत्र स्पष्ट और संतुलित बनकर चले हैं, जिनकी प्रेषणीयता का प्रभाव अत्यंत व्यापक है।

वाजपेयी जी की समालोचना में सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्षों का मेल है। आचार्य शुक्ल की भांति वे भी काव्य-कला और जीवन दर्शन के विषय में अपनी निश्चित धारणा रखते हैं और अपने एक निर्धारित प्रतिमान से ही काव्यकारों और उनकी कृतियों का परीक्षण करते हैं। उन्होंने कला को रूप और अरूप दोनों के चित्रण में समर्थ बतलाकर उसे श्री शोभा-संपन्न नारी-रूप में देखा है जिसके मोहिनी वेश में भावों की प्रतिभा सौंदर्य-राशि से अलंकृत होकर प्रकट होती है। वे कला की सर्वश्रेष्ठ सार्थकता इस बात में मानते हैं कि उसके द्वारा पारदर्शी रसिक-जनों को तो उसकी तात्विक उपलब्धि हो ही, साथ-साथ उसका आनंद सामान्य जन सुलभ भी हो जाए। इस प्रकार अपने इस प्रतिमान में उन्होंने सूर-काव्य को भावनाओं के परिमार्जन और शुद्धीकरण में पूर्णतया समर्थ माना है और वे उसके आध्यात्मिक पक्ष का भी गहन चिंतन कर आत्मस्थ कर सके हैं।

साहित्य समीक्षा संबंधी प्रयासों को वाजपेयी जी ने सात सूत्रों के रूप में बताया है। उनकी समीक्षा के आधार सूत्र हैं–

1. रचना में कवि की अंतर्वृत्तियों (मार्मिक उत्कर्ष-अपकर्ष) का अध्ययन।
2. रचना में कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता-विशालता (कलात्मक-सौष्ठव) का अध्ययन।
3. रीतियों, शैलियों और रचना के बाह्यांगों का अध्ययन।
4. समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओं का अध्ययन।
5. कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन। (मानस विश्लेषण)
6. कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों आदि का अध्ययन।
7. काव्य के जीवन संबंधी सामंजस्य ओर संदेश का अध्ययन।

शुक्लोत्तर युग की प्रसारकालीन समालोचना के सैद्धांतिक और व्यावहारिक विकास को सौंदर्यमूलक स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण से परिपुष्ट बनाने वाले समालोचकों की श्रेणी में वाजपेयी जी अग्रगण्य एवं सर्वोच्च प्रतिष्ठित रहेंगे।

5.5 डॉ. नगेंद्र

हिंदी आलोचना में स्वच्छंतावादी आलोचकों में डॉ. नगेंद्र का नाम आता है। उनकी आलोचना पद्धति की प्रमुख विशेषता है- भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्रों का समन्वय। उनकी व्यावहारिक समालोचना का क्षेत्र मुख्यत: आधुनिक हिंदी पर ही है। डॉ. नगेंद्र के 'सुमित्रानंदन पंत', 'साकेत एक अध्ययन', 'विचार और अनुभूति', 'विचार और विवेचन' तथा 'विचार और विश्लेषण' प्रमुख समीक्षात्मक निबंध संग्रह हैं जिनमें सैद्धांतिक और व्यावहारिक, दोनों समालोचनाओं के उदाहरण हैं। इनके अतिरिक्त 'सियारामशरण गुप्त' तथा 'आधुनिक हिंदी कविता की प्रवृत्तियां' प्रमुख संपादित ग्रंथ हैं।

नगेंद्र ने मुंशी प्रेमचंद के उपन्यास एवं उनकी साहित्यिक विचाराभिव्यक्ति को भी विवेचित किया है। उन्होंने प्रेमचंद जी का सबसे प्रधान गुण उनकी व्यापक सहानुभूति को बताया है। पर नगेंद्र जी प्रेमचंद के यथार्थ और आदर्शात्मक साहित्य में प्रतिभा के अनिवार्य अंग, तेजस्विता, गहनता, दृढ़ता और सूक्ष्मता के उतने अंग नहीं मिलते जितने व्यापकता के। यही कारण है कि नगेंद्र के अनुसार प्रेमचंद जी प्रथम श्रेणी के कलाकार नहीं क्योंकि उनमें वे उन गुणों का कुछ अभाव पाते हैं जो जीवन और साहित्य में अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। नगेंद्र जी ने प्रेमचंद जी को केवल सामाजिक समस्याओं तक ही सीमित बताकर उनके उपन्यासों में जीवन के चिरंतन प्रश्नों के कलात्मक चित्रण का अभाव पाया है। जो किसी भी प्रथम श्रेणी के प्रतिभाशाली लेखक की विशेषता होनी चाहिए।

प्रसाद के महाकाव्य 'कामायनी' पर विचार करते हुए कामायनी के अध्ययन की समस्याओं में डॉ. नगेंद्र ने लौंजाइनस द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत "महान प्रतिभा निर्दोषता से बहुत दूर होती है" के सिद्धांत पर विचार किया है क्योंकि सर्वांगीण शुद्धता में अनिवार्य क्षुद्रता की आशंका रहती है। और औदात्य में कुछ न कुछ छिद्र अवश्य रह जाते हैं। कामायनी के शिल्प विधान पर विचार करते हुए उन्होंने उसे महाकाव्य के तत्व उदात्त कथानक, उदात्त कार्य,

उदात्त भाव, उदात्त चरित्र एवं उदात्त शैली के आधार पर सिद्ध किया है कि कामायनी का महाकाव्यत्व असंदिग्ध है। परंपरा का नितांत निर्वाह प्रसाद के स्वभाव के विपरीत था। अतः कामायनी में भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र दोनों में से एक के भी लक्षणों का निर्वाह खोजना व्यर्थ होगा।

नगेंद्र जी की समालोचना का विषय श्री सुमित्रानंदन पंत के काव्यदर्शन का अध्ययन भी रहा है। नगेंद्र पंत जी के संबंध में आरंभ से ही यह धारणा बनाते चले आए हैं कि पंत के व्यक्तित्व का निर्माण ही ऐसा हुआ जिसमें मार्क्सवाद की भौतिकता और द्वंद्व को आत्मसात करने के लिए कम अवकाश है। नगेंद्र जी ने पंत के नवीन दर्शन की व्याख्या उनकी नवीन कृतियों 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्ण किरण' के आधार पर की है, जिनकी मूलचेतना आध्यात्मिक है।

डॉ. नगेंद्र ने 'महादेवी की आलोचना दृष्टि' नामक निबंध में महादेवी के साहित्य दर्शन, सामयिक समस्या, छायावाद संबंधी विचार पर विचार करते हुए महादेवी की आलोचना शैली पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि-

"महादेवी की आलोचना शैली चिंतन की शैली है, जिसमें विचार और अनुभूति का संयोग है। वह जैसे बौद्धिक तथ्यों को पचा-पचा कर हमारे समक्ष रखती हैं। निदान बौद्धिक तीक्ष्णता को उनके विवेचन में इतनी जगह नहीं मिलती परंतु बौद्धिक संश्लेषण सर्वत्र मिलता है।

छायावाद के विषय में डॉ. नगेंद्र का कहना है कि- छायावाद की कविता का विषय द्विवेदी युग जैसे बहिर्मुख न होकर अंतरंग व्यक्तिगत जीवन हुआ। उसका यही व्यक्तिभाव प्रसाद में, आनंदभाव, निराला में अद्वैतवाद, पंत में आत्मरति और महादेवी में परोक्षरति के रूप में प्रकट हुआ।

प्रगतिवादी विचारधारा पर बात करते हुए डॉ. नगेंद्र कहते हैं कि आज का प्रगतिवादी आलोचक जिन मंत्रणाओं से ग्रस्त है उनमें मूल प्रवृत्ति द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की है। डॉ. नगेंद्र ने पंत को हिंदी में प्रगतिवाद का सर्वप्रथम लेखक कह कर तदंतर यशपाल, नवीन, दिनकर और अंचल आदि को समाहित किया है।

प्रयोगवादी काव्य को नगेंद्र ने अत्यंत दुरुह बताया है। उनका मानना है कि प्रयोगवादी भावतत्व और काव्यानुभूति के बीच रागात्मक के स्थान पर बुद्धिगत संबंध हैं।

डॉ. नगेंद्र ने भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र पर भी विस्तार से विचार किया है। भारतीय काव्यशास्त्र में काव्यानुभूति का सूक्ष्म विवेचन है और पाश्चात्य काव्यशास्त्र में कवि की मनःस्थिति तथा काव्य निर्माण में प्रेरणा देने वाले सामाजिक प्रभावों का विश्लेषण है। इसलिए 'विचार एवं विश्लेषण' में उनका कहना है कि "इस प्रकार से दोनों एक-दूसरे के विरोधी न होकर सहायक या पूरक हैं। इनके तुलनात्मक अध्ययन की सबसे बड़ी उपयोगिता यह हो सकती है कि इनका समन्वय करके पूर्णतर काव्यशास्त्र का निर्माण किया जाए। जिसमें सृष्टा और भोक्ता के पक्षों का व्यापक विवेचन हो।" रस को डॉ. नगेंद्र ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विवेचित किया है। रस विवेचन पर उनकी 'रस सिद्धांत' पुस्तक अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

5.5.1 रसवादी समीक्षक

डॉ. नगेंद्र ने हिंदी-आलोचना को व्यावहारिक एवं सैद्धांतिक दोनों दृष्टियों से संवर्द्धित किया है। वे रसवादी आलोचक हैं, 'रस-सिद्धांत' में रस की सांगोपांग विवेचना करते हुए उन्होंने

इसे पुनः प्रतिष्ठित करने का पांडित्यपूर्ण प्रयास किया है। रसवाद पर जितना ऐकांतिक आग्रह नगेंद्र जी का दिखायी पड़ता है, उतना अन्य किसी आलोचक का नहीं। यदि वाजपेयी जी, द्विवेदी जी और डॉ. नगेंद्र की आलोचनाओं के वृत्त बनाये जाएं तो वाजपेयी जी की स्थिति मध्यवर्ती ठहरती है। उनकी वृत्त-परिधि एक ओर द्विवेदी जी की वृत्त-परिधि का स्पर्श करती है, तो दूसरी ओर नगेंद्र की। द्विवेदी जी और नगेंद्र की परिधियां एक-दूसरे से अछूती रह जाती हैं। द्विवेदी जी की मानवतावादी समीक्षा में साहित्येतर तत्वों की बहुलता है, वाजपेयी जी साहित्यिक मूल्यों पर बल देते हुए भी यथास्थान साहित्येतर मूल्यों का प्रयोग करते हैं, किंतु नगेंद्र जी एकांततः साहित्यिक समीक्षा सिद्धांतों के पक्षपाती हैं, साहित्येतर मूल्यों से उनका संबंध प्रायः नहीं है।

डॉ. नगेंद्र ने नयी कविता की दुरूहता का विश्लेषण करते हुए इसके पांच कारण बताये हैं–

1. भाव तत्व और काव्यानुभूति के बीच रागात्मक के स्थान पर बुद्धिगत संबंध होना।
2. साधारणीकरण का त्याग।
3. उपचेतन मन के अनुभव-खंडों का यथावत् चित्रण।
4. भाषा का एकांत एवं अनर्गल प्रयोग।
5. नूतनता का सर्वग्राही मोह।

नये कवि आलोचकों की आलोचनाओं से लाभ उठाने के स्थान पर वे किस प्रकार प्रत्यारोप करते हैं, इस प्रवृत्ति पर व्यंग्यात्मक शैली में विचार करते हुए डॉ. राम विलास शर्मा ने लिखा है– 'किसी शास्त्रीय आलोचक की क्या मजाल कि प्रयोगवादी कविताओं की निष्पक्ष समीक्षा करके पूर्वाग्राही कहलाने से बच सके। जहां किसी आलोचक ने नयी कविता के सिलसिले में 'रस' की चर्चा की कि नये कवि दल-बल सहित अपने-अपने वक्तव्यों और परिभाषाओं के अस्त्र लेकर उसके सामने खड़े हो जाएंगे। तब आलोचक के सामने दो ही रास्ते रह जाते हैं; या तो वह शास्त्र और कविता दोनों को लेकर वहां भाग खड़ा हो जहां रस-मर्मज्ञ पाठक एवं श्रोता हों या नये कवियों के अर्थहीन वक्तव्यों पर मुग्ध होकर कहने लगे– 'मनुष्य को बिंबों के सहारे जीना चाहिए, प्रयोगवाद एक नया सौंदर्य-शास्त्र लेकर आया है। (समालोचक; अगस्त 1959)।

5.5.2 छायावादी आलोचक

अपनी आलोचना-प्रक्रिया में नगेंद्र आरंभ से छायावादी काव्य के प्रति शंकालु और शास्त्र को लेकर आश्वस्त रहे हैं। 'छायावाद की परिभाषा' शीर्षक अपने आरंभिक और प्रसिद्ध निबंध में वे लिखते हैं, "यह तो स्पष्ट ही है कि छायावाद का काव्य प्रथम श्रेणी का विश्व-काव्य नहीं है– कुंठा की प्रेरणा प्रथम श्रेणी के काव्य को जन्म नहीं दे सकती।" अपने दूसरे प्रिय क्षेत्र रीति काव्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विवेचन आरंभ करते हुए इस काल की कविता को वे 'क्षयग्रस्त' बताते हैं ('रीति-काव्य की भूमिका')। हो सकता है, अपनी आलोचकीय निष्पक्षता को प्रमाणित करने के लिए उन्होंने ऐसे कठोर वक्तव्य दिए हों, पर इससे दोनों युगों की कविता के प्रति अन्याय हुआ है। यों, रीति-काव्य के वैशिष्ट्य को रेखांकित करने में उनके अध्ययन का ऐतिहासिक महत्व है। रीतिकालीन शृंगारिकता की व्याख्या करते हुए वे

लिखते हैं, "इस शृंगारिकता के विषय में दूसरी बात यह ज्ञातव्य है कि इसका स्वरूप प्रायः सर्वत्र ही गार्हस्थिक है।" (वही, पृ. 169) यों आलोचक ने हिंदी परंपरा के अंतर्गत परिवार और गार्हस्थिक जीवन की महिमा से रीति काव्य को ठीक ही संबद्ध किया है।

आलोचना के क्षेत्र मे नगेंद्र के व्यक्तित्व का एक पक्ष आयोजन को लेकर है। प्राचीन भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के संकलन और संपादन में उनका कार्य श्यामसुंदरदास की आरंभिक व्यवस्था का स्मरण दिलाता है।

सर्वप्रथम छायावादी आलोचक के रूप में ही नगेंद्र को ख्याति मिली। प्रीति और विस्मय से समन्वित छायावादी काव्य की अंतर्मुखी साधना, सौंदर्य-चेतना और कलात्मक छवियों के प्रति वे विशेष आकृष्ट थे। 'सुमित्रानंदन पंत' (1938) इसी मनोदशा का परिणाम है।

डॉ. नगेंद्र ने कहा कि "छायावाद की रहस्योक्तियां एक प्रकार की जिज्ञासाएं हैं, जो छायावाद के उत्तरार्द्ध में आध्यात्मिक दर्शन के द्वारा और भी पुष्ट हो गयी हैं। परंतु वे धार्मिक साधना पर आश्रित नहीं है। उनका आधार कहीं भावना, कहीं दर्शन-चिंतन और आरंभ में कहीं-कहीं मन की छलना भी है।"

अज्ञेय ने छायावाद की इस प्रवृत्ति को "भावों को आध्यात्मिकता के आवरण में व्यक्त करने की प्रेरणा" कहा और स्वयं सुमित्रानंदन पंत ने रहस्यवाद के प्रश्न मात्र को छायावाद के संदर्भ में अनुचित माना- "मेरे विचार में उस युग की पुष्कल बहुमुखी काव्य-सृष्टि को सामने रखते हुए छायावाद पर रहस्यवादी दृष्टि से विचार करना अतिरंजना है और युग की मुख्य काव्य-प्रवृत्ति पर एक गलत मानदंड का प्रयोग करना है। मध्ययुगीन संतों की तरह छायावादी कवि आत्म-ब्रह्म और आत्म-परिष्कार की खोज में न जाकर विश्वात्मा तथा विश्व-जीवन की खोज की ओर अग्रसर हुए।"

पंतजी का यह कहना एकदम सही है कि छायावाद बहुमुखी काव्य-सृष्टि है और उसका केंद्रीय भाव रहस्यवाद नहीं है। परंतु रहस्योन्मुखी वृत्ति छायावाद की विशेषताओं में से एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति अवश्य है।

छायावाद की दूसरी महत्वपूर्ण और सर्वाधिक प्रचलित परिभाषा में उसे स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह कहा गया है। इस परिभाषा को सूत्रबद्ध कर सर्वसुलभ बनाने का श्रेय डॉ. नगेंद्र को है। अपनी पहली आलोचनात्मक पुस्तक 'सुमित्रानंदन पंत' में उन्होंने कहा था- स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह ही छायावाद का आधार है। स्थूल शब्द बड़ा व्यापक है, इसकी परिधि में सभी प्रकार के बाह्य रूप-रंग, रूढ़ि आदि सन्निहित हैं और इसके प्रति विद्रोह का अर्थ है उपयोगितावाद के प्रति भावुकता का विद्रोह, नैतिक रूढ़ियों के प्रति मानसिक स्वातंत्र्य का विद्रोह और काव्य में बंधनों के प्रति स्वच्छन्द कल्पना का विद्रोह। इसके विपरीत 'साकेत : एक अध्ययन' (1939) में उनकी शास्त्रीय अभिरुचि व्यक्त हुई। 'रीतिकाव्य की भूमिका' (1949) तथा 'देव और उनकी कविता' (1949) के लिए अध्ययन-लेखन-क्रम में उनकी रसवादी दृष्टि पूर्णतः पुष्ट हो गयी। किंतु संस्कृत-काव्यशास्त्र में विवेचित रस को उन्होंने ज्यों-का-त्यों स्वीकार नहीं किया; अपितु उसके विवेचन में मनोविज्ञान की पूरी सहायता ली। 'आधुनिक हिंदी नाटक' (1940), 'विचार और अनुभूति' (1944), 'आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां' (1951) आदि ग्रंथों में उनकी तीखी मनोवैज्ञानिक दृष्टि को सहज ही पाया जा सकता है। इसीलिए कुछ लोगों ने उन्हें भ्रमवश फ्रायडवादी आलोचक कहा

है। इसमें संदेह नहीं कि फ्रायडीय मनोविज्ञान का उन पर गहरा प्रभाव है, लेकिन यह स्वयं साधन न होकर रसवाद का साधन है।

5.5.3 समसामयिक साहित्यांदोलनों में संपृक्तता

रसवाद पर अपनी दृष्टि केंद्रित करके भी नगेंद्र जी आधुनिक साहित्य और समसामयिक आंदोलनों से बराबर संपृक्त रहे हैं। जहां उन्होंने 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएं' (1962) ग्रंथ की रचना की, वहीं वे नयी कविता, उपन्यासों और कहानियों को भी समय-समय पर मूल्यांकित करते रहे हैं। 'नयी समीक्षा : नये संदर्भ' (1970) में मूल्यों का विघटन, सांस्कृतिक संकट, आधुनिकता का प्रश्न आदि ज्वलंत विषयों पर भी उन्होंने विचार व्यक्त किये हैं। नये-से-नये विषयों से उलझते रहने के कारण उनकी रसवादी दृष्टि में एक नया संतुलन आया है; इसी कारण वे रस-सिद्धांत के आयामों के विस्तार का आग्रह करते हैं। रस या आनंद के प्रति उनके आग्रह से यह शंका हो सकती है कि क्या वे जीवन और जगत को साहित्य से अनिवार्यतः संपृक्त नहीं मानते? इस संबंध में उनका विचार है कि समाज का तिरस्कार करने से लेखक की आत्मा की क्षति होगी; किंतु जब तक वह निश्छल आत्माभिव्यक्ति करता रहेगा, उसकी कृति मूल्यहीन नहीं हो सकती। वस्तुतः उनका आग्रह परिष्कृत आनंद और निश्छल आत्माभिव्यक्ति के प्रति है। इसके साथ ही उन्होंने कवि के व्यक्तित्व पर भी जोर दिया है, जिसका अर्थ है—छायावादी मान्यताओं की स्वीकृति। जिस काव्यान्दोलन ने उनके आलोचक-व्यक्तित्व के निर्माण में उल्लेखनीय योगदान दिया हो, उससे प्रभावित न होना अस्वाभाविक होता। नगेंद्र जी परिष्कृत आनंदानुभूति में ही नैतिक मूल्यों का समावेश कर लेते हैं। उनका यह सिद्धांत रिचर्ड्स के मूल्य-सिद्धांत के समानांतर दिखायी पड़ता है; रिचर्ड्स के अनुसार भी काव्य का मूल्य नैतिकता से संबद्ध न होकर अंतर्वृत्तियों के सामंजस्य पर निर्भर करता है। 'भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका' शीर्षक अपने नवीनतम ग्रंथ में उन्होंने हिंदी-समीक्षक के एक अन्य अभाव की पूर्ति की है।

5.5.4 व्यावहारिकता में सैद्धांतिकता का समन्वय

नगेंद्र जी की व्यावहारिक आलोचना तथा सैद्धांतिक आलोचना में प्रीतिकर एकसूत्रता दिखायी पड़ती है। उन्होंने पूर्व और पश्चिम के महत्वपूर्ण काव्यशास्त्रों का हिंदी-अनुवाद करने-कराने में सबसे अधिक योग दिया है। उनकी प्रेरणा से आचार्य विश्वेश्वर ने 'अभिनवभारती' 'वक्रोक्तिजीवित', 'ध्वन्यालोक', 'नाट्यदर्पण', 'काव्यप्रकाश' आदि को हिंदी में अनूदित किया। पाश्चात्य काव्यशास्त्र के कुछ क्लासिक ग्रंथों के अनुवाद भी उनकी देख-रेख में हुए हैं- 'अरस्तू का काव्यशास्त्र', 'काव्य में उदात्त तत्व' (लौंगिनुस के 'द सब्लाइम' का अनुवाद) और 'काव्य-कला' (होरेस की 'आर्स पोयतिका' का अनुवाद) का प्रकाशन हो चुका है। सेन्टसबरी के 'लांगमाई क्रिटिकाई' की पद्धति पर उन्होंने 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा' शीर्षक ग्रंथ का संपादन किया है जिसमें यूरोप के प्रतिनिधि आलोचकों के मुख्य सिद्धांतों का संकलन हुआ है। इन अनुवादों से दो लाभ हुए—एक तो यह कि अब हिंदी का समीक्षक अनूदित मूल ग्रंथों के सम्यक् अध्ययन-विश्लेषण द्वारा अपनी स्वतंत्र मान्यताएं बना सकता है और दूसरा यह कि इससे स्वयं नगेंद्र जी को अपने समीक्षा सिद्धांतों को संतुलित और समन्वित बनाने के लिए वृहत् आयाम मिल गया।

5.5.5 शुद्धतावाद का आग्रह

नगेंद्र शुद्धतवादी हैं। वे साहित्य को साहित्येतर गिरफ्तों से मुक्त रखना चाहते हैं। "साहित्यिक स्तर की रक्षा के लिए पहली आवश्यकता यह है कि साहित्य में राजनीतिक मूल्यों का प्रवेश निषिद्ध रहना चाहिए। राजनीति से अभिप्राय है भेदनीति। जो सांसारिक या भौतिक लाभालाभ पर आश्रित रहती है" (आस्था के चरण)। वे साहित्य के बाहर से कोई तत्व लाने के पक्षपाती इसलिए नहीं है कि साहित्य की 'मूलभूत चेतना अपने सहज रूप में शिव और सुंदर है।' यह बात स्पष्ट नहीं है कि बिना यथार्थ चित्रण (बाह्य तत्व) के साहित्य कल्याणकारी कैसे हो सकता है। साहित्य में राजनीति के प्रवेश को हजारी प्रसाद द्विवेदी जी भी मान्य समझते हैं। राजनीति का अर्थ भेदनीति नहीं है और न दल विशेष की विचारधारा से प्रभावित होकर लेखन कार्य में प्रवृत्त होने से है। राजनीति से अभिप्राय केवल इतना ही है कि राष्ट्र के अंदर व्याप्त समस्याओं के यथार्थवादी चित्रण के आधार पर उनके समाधानार्थ सुदृढ़ संकेत देना ताकि साहित्य सतत रूप से जीवन से जुड़ा रहे। शुक्ल जी रस सिद्धांत का विश्लेषण करते समय उसे जीवन की यथार्थताओं से जोड़ते हैं। नगेंद्र इस संबंध में परंपरावादी हैं। आनंद और कल्याण में से वे आनंद को श्रेष्ठ मानते हैं "वास्तव में हित जहां खंड चेतना का साध्य है वहां आनंद अखंड चेतना का साध्य है" (आस्था के चरण)। नगेंद्र का 'आनंद' समाज के हित-अहित से परे है।

नगेंद्र एक ही वस्तु की अनेक प्रकार से व्याख्या करते हैं। स्वस्थ रचना को वे लेखक की निश्छल आत्माभिव्यक्ति मानते हैं। क्योंकि उसके द्वारा परिष्कृत आनंद की प्राप्ति होती है। वे सुदृढ़तापूर्वक तर्क देते हैं- "नैतिक एवं सामाजिक मूल्य से स्वतंत्र भी उसका (आत्माभिव्यक्ति) एक स्वतंत्र महत्व है, जिनको तुच्छ समझना स्थूल बुद्धि का परिचय देना है।" सामाजिक मूल्यों से लाग-लपेट के बिना यह आनंद चाहे कितना परिष्कृत क्यों न हो, होगा व्यक्तिनिष्ठ ही। वे मानते हैं "आलोचना को अपनी आलोचना दृष्टि आलोच्य में से ही प्राप्त करनी होगी।" (आस्था के चरण)।

कुल मिलाकर आधुनिक हिंदी आलोचना को समृद्ध करने में डॉ. नगेंद्र का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वे काव्यशास्त्र के प्रकांड पंडित और आलोचनात्मक निबंधकार के रूप में हमेशा याद किये जाते रहेंगे।

5.6 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

उत्तर प्रदेश के बलिया जिले में जन्मे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिंदी के लब्धप्रतिष्ठित लेखक व समालोचक रहे हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उनकी प्रसिद्ध उपन्यास कृति है। 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', एवं 'कबीर' इनके समालोचनात्मक ग्रंथों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आचार्य द्विवेदी आधुनिक काल के सर्वश्रेष्ठ निबंधकारों, इतिहासकारों में गिने जाते हैं। आधुनिक समीक्षकों में उनका नाम अग्रगण्य है। उनके उपन्यास कम किंतु अत्यंत रोचक और महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि वे मूलतः काव्यशास्त्री नहीं हैं किंतु काव्यशास्त्र और काव्यात्मवाद पर लिखे गए उनके कुछ निबंध हमें काव्यशास्त्र से संबंधित उनके मतों का परिचय देते हैं।

Institute of Distance Education

Rajiv Gandhi University

A Central University

Rono Hills, Arunachal Pradesh

Contact us:

+91-98638 68890 | Ide Rgu | Ide Rgu | helpdesk.ide@rgu.ac.in